23 दिसंबर 2005

सत्र 10

अध्यक्षः बालसुब्रमण्यन

भरत पूरे

मुझसे होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (हो.वि.शि.का.) के शिक्षक प्रशिक्षण के बारे में बोलने को कहा गया है। मैं इस कार्यक्रम से पिछले कई वर्षों से जुड़ा रहा हूं। मुझे एक फायदा यह है कि श्रोताओं में कई लोग हैं, जो इस कार्यक्रम के शुरुआती प्रवर्तकों में से हैं। यह कार्यक्रम कई वर्षों में क्रमिक रूप से विकसित हुआ था। इन लोगों में प्रोफेसर पंचापकेसन, प्रोफेसर प्रमोद श्रीवास्तव, विजय वर्मा, और कमल महेंद्रू, हार्डी, साधना सक्सेना व अन्य कई छात्र वालंटियर्स की एक टीम रही है। इसलिए मुझे सुकून इस बात का है कि यदि मैं कुछ भूल गया, तो ये लोग ज़रूर मेरी मदद करेंगे, और प्रश्नों के जवाब देने में तो ज़रूर मदद करेंगे।

शिक्षक प्रशिक्षण हो.वि.शि.का. का एक महत्वपूर्ण भाग रहा है। यह शैक्षणिक, प्रबंधकीय व सामाजिक पहलुओं के लिहाज़ से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। शिक्षक प्रशिक्षण के विभिन्न पहलुओं का विकास ठेठ 1972 में कार्यक्रम की शुरुआत के साथ शुरू हुआ था और 2002 में कार्यक्रम के बंद होने तक जारी रहा। जैसा कि प्रोफेसर पंचापकेसन ने बताया, शिक्षक प्रशिक्षण का एक पैटर्न विकसित किया गया था जिसमें हम जैसे लोग प्रशिक्षक थे जो स्वयं प्रशिक्षित नहीं थे, और रूढिवादी नज़रिए से हम प्रशिक्षक होने के काबिल नहीं थे।

हमने जो शिक्षक प्रशिक्षण विकसित किया उसके प्रमुख गुणधर्म थे - विषयवस्तु व विधि की मिली-जुली रणनीति, सघन प्रशिक्षण, औपचारिक प्रशिक्षण पूरा होने के बाद सतत प्रशिक्षण, प्रशिक्षण में विविध तरीकों का उपयोग, पूरे देश के विभिन्न शैक्षणिक व शोध संस्थानों से स्रोत व्यक्तियों की शिरकत - वैसे तो कई सारी संस्थाओं से स्रोत व्यक्ति आए मगर मुख्य समूह दिल्ली विश्वविद्यालय का था। जैसा कि कल प्रोफेसर प्रमोद श्रीवास्तव ने जुन्हेटा स्कूल में विकसित किए गए कुछ प्रयोगों का ज़िक्र किया था, तो कई स्रोत व्यक्ति आते थे, स्कूलों में जाते थे। प्रमुख स्रोत व्यक्ति 6-6 महीनों के लिए रुकते थे। इससे शिक्षकों और स्रोत व्यक्तियों के बीच एक अलग ढंग का सम्बंध बनाने में मदद मिली थी। स्रोत व्यक्ति मैदानी परिस्थिति को समझ पाए थे और स्कूली शिक्षक देख पाए थे कि उच्च शिक्षा संस्थाओं से आने वाले शिक्षक उनसे अलग नहीं हैं। तो शुरुआत में जो स्रोत व्यक्ति आयोजक संस्थाओं में आए, उनकी बदौलत एक अवरोध टूटा, एक पैटर्न स्थापित हुआ, जो आने वाले वर्षों में जारी रहा। शुरुआत में, जैसा कि आप जानते ही हैं, कार्यक्रम 16 स्कूलों में 32 शिक्षकों के साथ शुरू हुआ था, मगर आगे चलकर यह पूरे ज़िले के 250 स्कूलों में फैला, जैसा कि कल कमल ने बताया था। यह दूसरा चरण था जिसमें उन सब चीज़ों को हासिल करने के लिए जिनका ज़िक्र मैंने किया और कमल ने जो 14 बिंदु गिनाए थे, उन्हें हासिल करने के लिए हम हर साल एक नियमित शिक्षक प्रशिक्षण का आयोजन करते थे, अनुवर्तन (follow-up) दल के लिए प्रशिक्षण, स्रोत व्यक्तियों का उन्मुखीकरण व प्रशिक्षण आयोजित करते थे और सतत प्रशिक्षण के लिए सारे तरीकों का उपयोग किया गया था। हर चीज़ का मकसद यह था कि शिक्षकों को सशक्त करना, जो इस पूरे पैकेज में शामिल थे।

हो.वि.शि.का. एक समूचा पैकेज था और शिक्षक प्रशिक्षण इस पैकेज का प्रमुख हिस्सा था। यह प्रशिक्षण एकमुश्त प्रशिक्षण नहीं था; इसमें शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण होता था, अनुवर्तन दल का प्रशिक्षण होता था, स्रोत व्यक्तियों का उन्मुखीकरण व प्रशिक्षण होता था और सतत प्रशिक्षण के तरीके अपनाए जाते थे।

शिक्षकों का प्रशिक्षण एक विशाल सालाना जलसा होता था। हर साल 18 दिन का प्रशिक्षण आयोजित किया जाता था। कार्यक्रम कक्षा 6, 7 व 8 के लिए था और हर स्कूल से कम से कम दो शिक्षकों को बुलाया जाता था। यदि स्कूल बड़ा हो, यानी यदि प्रत्येक कक्षा का एक से ज़्यादा सेक्शन हो, तो उसी अनुपात में ज़्यादा शिक्षकों को प्रशिक्षण में बुलाया जाता था। इन शिक्षकों का 18-18 दिनों का प्रशिक्षण तीन वर्षों तक चलता था। इनमें विषय वस्तु और शिक्षण विधि का प्रशिक्षण दिया जाता था। स्रोत व्यक्ति प्रशिक्षण स्थल पर प्रशिक्षण शुरू होने के दिन से 2-3 दिन पहले ही पहुंच जाते थे और हर चीज़ की तैयारी कर लेते थे। अध्याय-वार समूह बनाए जाते थे, इस बात की सावधानी रखी जाती थी कि स्रोत व्यक्ति पूरी तरह तैयार रहें ताकि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों को वह सब दे सकें जो दिया जा सकता है। प्रतिदिन शिक्षकों के साथ 6-7 घण्टे के संपर्क के बाद स्रोत व्यक्तियों की फीडबैक बैठक होती थी। ये स्रोत व्यक्ति विभिन्न प्रशिक्षण कक्षाओं में पढ़ाकर आए होते हैं। इन बैठकों में उस दिन की कक्षाओं के बारे में विस्तृत चर्चा होती थी और यह अधिकांश स्रोत व्यक्तियों के लिए बहुत बड़ी बात थी। कभी-कभी कुछ शिक्षक भी अपनी इच्छा से इन फीडबैक बैठकों में शामिल होते थे, ये प्रशिक्षु होते थे मगर फीडबैक बैठकों में आ जाते थे। शाम को स्रोत दल एक बार फिर अगले दिन के अध्यायों की तैयारी करता था।

इन प्रशिक्षणों के दौरान, अंतिम कुछ वर्षों में, एक संदर्भ पुस्तकालय भी उपलब्ध कराया जाता और समय-समय पर अतिथि व्याख्यान भी आयोजित किए जाते थे। ये व्याख्यान या तो स्रोत व्यक्ति ही देते या किसी जाने-माने व्यक्ति को आमंत्रित किया जाता था। इनका मकसद शिक्षकों को अध्यायों व विषयों के बारे में और जानकारी देने का होता था। महत्वपूर्ण बात यह कि प्रशिक्षण सत्र के दौरान एक ऐसा वातावरण बनाया जाता था जैसा कि शिक्षकों को स्कूल पहुंचकर पढ़ाते समय मिलेगा। इसमें बैठक व्यवस्था, टोलियों का गठन, गतिविधियां करना, अवलोकनों के बाद सामूहिक चर्चा के ज़रिए निष्कर्ष निकालना और जहां ज़रूरी हो, चीज़ों को खुला छोड़ देना वगैरह शामिल थे। यह भी बहुत महत्वपूर्ण पक्ष था, क्योंकि आम तौर पर शिक्षक सोचते हैं कि हर सवाल का एक जवाब होता है, तो यह बात उनके दिमाग से निकालना ज़रूरी था और यह बात भी निकालना ज़रूरी था कि किसी भी शिक्षक के पास हर सवाल का जवाब होना चाहिए। तो कई बार स्रोत व्यक्ति को जवाब मालूम होता था मगर वह इसे यह कहकर शिक्षकों पर छोड़ देता था कि उसे नहीं मालूम और सुझाव देता था कि वे पुस्तकालय में खोजें या किसी अन्य व्यक्ति से चर्चा कर लें। तो हमने ये गुण विकसित करने के प्रयास किए। कक्षा में भी स्रोत दल के समूह में से कोई एक व्यक्ति निर्देशित खोज पद्धति का नेतृत्व करता और कम से कम एक-एक व्यक्ति हर टोली में बैठकर गतिविधियों में मदद करता था। समय-समय पर कुछ लघु प्रश्न देकर कक्षा का मूल्यांकन भी किया जाता था।

दिलचस्प बात यह है कि प्रशिक्षण में आने वाले अधिकांश शिक्षकों ने कक्षा 10 के बाद विज्ञान नहीं पढ़ा होता था। यानी उनसे कक्षा 6, 7 व 8 को विज्ञान पढ़ाने की उम्मीद की जाती थी मगर वे स्वयं कभी विज्ञान के विद्यार्थी नहीं रहे। तो उनके मन से यह डर भी मिटाना होता था कि वे विज्ञान नहीं पढ़ा सकते या नहीं समझ सकते। स्रोत व्यक्ति सचमुच इसका प्रयास करते थे और यह एक उपलब्धि है जिसका श्रेय स्रोत व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए। सहभागी शिक्षकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों को समुचित महत्व देने व उन पर चर्चा करने से

वास्तव में पाठों, गतिविधियों, किट सामग्री वगैरह के संशोधन में मदद मिली है। इससे हमें अपनी सामग्री का विकास करने में मदद मिली है।

प्रशिक्षण व कक्षाओं के दौरान उन मुद्दों पर विशेष ज़ोर दिया जाता था जिनकी चर्चा कमल ने की थी। जैसे अवलोकन, आंकड़े एकत्रित करना, आंकड़ों को व्यवस्थित करना, सर्वेक्षण करना, परिभ्रमण, प्रयोग डिज़ाइन करना, वैकल्पिक प्रयोग सामग्री ढूंढ़ना, कुछ गतिविधियों को छोड़ना-जोड़ना और सामूहिक चर्चा, प्रशिक्षण के दौरान इन सबको महत्व दिया जाता था और आज भी एकलव्य के विभिन्न फील्ड सेंटर्स शिक्षकों के लिए छोटे-छोटे प्रशिक्षण, कार्यशालाएं और मासिक गोष्ठियां आयोजित करते हैं। इनमें वे शिक्षक आते हैं जो अभी भी समूह के साथ किसी न किसी तरह संपर्क बनाए रखना चाहते हैं।

पूरे शैक्षणिक सत्र के दौरान होने वाला फॉलो-अप (अनुवर्तन) हो.वि.शि.का. का एक महत्वपूर्ण पहलू था और इसके लिए हाई स्कूल व हायर सेकंडरी स्कूलों के कुछ उच्च क्षेणी शिक्षकों और व्याख्याताओं व मिडिल स्कूल के प्रधान पाठकों को चुनकर महीने में दो बार फॉलो-अप कार्य दिया गया था। शिक्षकों को दिया जाने वाला विषयवस्तु-सह-विधि प्रशिक्षण फॉलो-अप पर जाने वाले इन लोगों को भी दिया गया था। इसके अलावा, इन्हें फॉलो-अप कार्य करने व फॉलो-अप रिपोर्ट तैयार करने का प्रशिक्षण भी दिया गया था। ये रिपोर्टें संगम केंद्र प्रभारी को सौंपी जाती थी। ये प्रभारी मासिक गोष्ठियां आयोजित करते थे। इन फॉलो-अप व्यक्तियों को मासिक गोष्ठियों में भी आना होता था। मासिक गोष्ठियों में सम्बंधित शिक्षक, फॉलो-अप कार्य करने वाले लोग तथा एकलव्य से कोई स्रोत व्यक्ति होते और यहां विभिन्न मुद्दों पर चर्चा हो सकती थी, जो उस माह में शिक्षण कार्य के दौरान उठे हों।

तीसरा पहलू था स्रोत व्यक्तियों का उन्मुखीकरण व प्रशिक्षण। कोर्स के स्रोत व्यक्ति विजय वर्मा और प्रमोद श्रीवास्तव से लेकर यहां बैठे मेरे मित्रों तक होते थे - उमेश चौहान, पटेल जी और सुनीला मसीह। ये लोग कार्यक्रम से काफी समय से जुड़े और समय के साथ ये स्रोत व्यक्ति का कार्य करने लगे थे। हालांकि ये मिडिल स्कूल में शिक्षक हैं और शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सहभागी रहे हैं मगर आगे चलकर अपने उत्साह और रुचि के चलते इन्होंने अकादमिक रुचि प्रदर्शित की और स्रोत व्यक्ति बने। तो शिक्षक प्रशिक्षकों का यह एक समूह है जिन्होंने शायद खुद दसवीं या बारहवीं कक्षा से आगे विज्ञान नहीं पढ़ा होगा। इसके अलावा एक समूह और था - हायर सेकंडरी स्तर के शिक्षक और व्याख्याता जो विज्ञान में स्नातक या स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर चुके थे। तो इन स्रोत व्यक्तियों और विषय विशेषज्ञ माने जाने वाले स्रोत व्यक्तियों द्वारा महसूस किया गया कि शिक्षकों को कुछ अतिरिक्त विषयवस्तु व समझ प्रदान करने की आवश्यकता है ताकि वे प्रशिक्षण के दौरान कक्षाओं का सामना कर सकें जहां उन्हें स्रोत व्यक्तियों के रूप में काम करना होता था।

आखरी पहलू सतत प्रशिक्षण का था। मेरे ख्याल में सभी इस बात से सहमत होंगे कि 1 महीने या 18 दिन या 2 महीने का एक प्रशिक्षण देने से काम पूरा नहीं होता। जब शिक्षक कक्षा में वास्तविक समस्याओं का सामना करते हैं तो वहां उन्हें कुछ मदद मिलनी चाहिए। इसके लिए समूह ने सवालीराम का विकास किया। सवालीराम एक व्यवस्था थी जहां छात्र, शिक्षक और पालक कभी भी समूह से संवाद करके अपने उन सवालों के जवाब पा सकते थे, जो पढ़ते समय, पढ़ाते समय, प्रकृति का अवलोकन करते हुए या अन्य परिस्थितियों में उनके मन में आएं। इस व्यवस्था के तहत कोई भी समूह को पत्र लिख सकता था और समूह उस व्यक्ति को जवाब देने की कोशिश करता था। चुने हुए प्रश्न एकलव्य द्वारा पत्रिकाओं - चकमक, स्रोत व संदर्भ -

में प्रकाशित भी होते थे। यदि पूछा गया प्रश्न किसी मासिक गोष्ठी के लिए मौजूं होता तो उसकी चर्चा वहां भी की जाती थी। पूछे गए प्रश्नों के उपयुक्त जवाब पाने के लिए संदर्भ पुस्तकों, इंटरनेट, और पूरे देश में फैले विषय विशेषज्ञों की मदद ली जाती थी। सवालीराम तक पहुंच को आसान बनाने के लिए बाल वैज्ञानिक पुस्तकों के पहले पृष्ठ पर ही सवालीराम की चिट्ठी छापी गई जिसमें बच्चों को बेहिचक सवाल पूछने को प्रेरित किया गया था।

दूसरा हिस्सा प्रकाशनों का था। शुरुआत एक बुलेटिन के प्रकाशन के साथ हुई थी - होशंगाबाद विज्ञान। यह हो.वि.शि.का. के सहभागी शिक्षकों के लिए आंतरिक बुलेटिन था। आगे चलकर बच्चों के लिए मासिक पत्रिका चकमक और छात्रों व शिक्षकों के लिए द्वैमासिक पत्रिका संदर्भ शुरू की गई थी। आगे चलकर विभिन्न एजेंसियों की वित्तीय मदद से एक प्रकाशन टीम ने शैक्षणिक प्रकाशनों का काम संभाल लिया। अब तक एकलव्य ने 120 शीर्षक प्रकाशित किए हैं (संख्या ज़्यादा भी हो सकती है)। ये दीवार पत्रिकाओं, पर्चों, गतिविधि पुस्तिकाओं, कहानी की पुस्तकों, क्रॉसवर्ड संग्रहों, गणित व अन्य पहेलियों की पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं के रूप में हैं। इसके अलावा समूह ने अन्य भाषाओं की कई प्रतिष्ठित किताबों के अनुवाद भी प्रकाशित किए हैं। ये सारे प्रकाशन एकलव्य के फील्ड सेंटरों पर उपलब्ध हैं। ये पुस्तकें व अन्य प्रकाशन बाल मेलों, पुस्तक मेलों में भी बेचे जाते हैं और विभिन्न शिक्षा संस्थाओं के बुक स्टॉल्स वगैरह पर भी बेचे जाते हैं। प्रकाशन एक ज़बर्दस्त संसाधन साबित हुए हैं, ये कार्यक्रम से जुड़े शिक्षकों के लिए सतत शिक्षा के बढ़िया स्रोत हैं।

मैंने मासिक गोष्ठियों का ज़िक्र पहले ही किया। इन बैठकों से शिक्षकों, फॉलो-अप शिक्षकों तथा एकलव्य के अन्य व्यक्तियों को काफी फायदा हुआ है।

रश्मि पालीवाल

नमस्कार। मैं आयोजकों को ज़रूर धन्यवाद दूंगी मगर उससे भी ज़्यादा मैं आप सबको धन्यवाद देना चाहूंगी, वे सब जो उदयपुर पहुंचे हैं और इस रोमांचक सम्मेलन में भाग ले रहे हैं। और धन्यवाद के अलावा, मैं बताना चाहती हूं कि यदि मेरा प्रस्तुतीकरण थोड़ा उखड़ा-उखड़ा और असम्बद्ध सा लगे तो उसके लिए इस जगह की सुंदरता और इस सम्मेलन का रोमांच कुछ हद तक ज़िम्मेदार है। मुझे उम्मीद थी, ईमानदारी से उम्मीद थी कि पिछले दो दिनों में मैं कुछ लिख लूंगी मगर यह बिलकुल असंभव रहा। मैं यहां आए लोगों के साथ इतनी व्यस्त रही, इतना मज़ा आ रहा था कि मैंने लिखने का विचार छोड़ दिया। तो इस मामले में थोड़ी मेहरबानी करें।

मैं दरअसल पहचानने की कोशिश कर रही थी कि क्या यहां सामाजिक विज्ञान के और लोग मौजूद हैं क्योंकि जो कुछ मैं यहां प्रस्तुत करने जा रही हूं और रमा और हार्डी ने मुझे जो विषय दिया वह यह कि कैसे स्कूलों में सामाजिक विज्ञान शिक्षा के संदर्भ में एक शिक्षक समर्थन तंत्र का विकास किया गया था और छात्रों को सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हुए शिक्षकों के लिए समर्थन की एकलव्य की समझ क्या रही। इससे पहले कि मैं यह चर्चा शुरू करूं कि हमने शिक्षकों के साथ क्या काम किया, यह लाज़मी है कि संक्षेप में आपको कार्यक्रम का परिचय दे दूं और यह भी बताऊं कि सामाजिक विज्ञान के शिक्षण में प्रयुक्त विधि प्राकृतिक विज्ञान शिक्षण की विधि, जिसकी बात हम पिछले दो दिनों से कर रहे हैं, से किन मायनों में अलग है।

आप में से कई लोगों को पता होगा, और कई लगों को पता न होगा, इसलिए संक्षेप में इतिहास बताती हूं। जब एकलव्य का गठन हुआ तब तक हो.वि.शि.का. किशोर भारती का एक सुस्थापित कार्यक्रम था, उस समय एकलव्य का बुनियादी अजेंडा यह था कि विज्ञान के अलावा अन्य विषयों के शिक्षण में नवाचार करे, और आलोचनात्मक सोच, खोज-आधारित सीखने, गतिविधि-आधारित सीखने के अजेंडा को स्कूली पाठ्यक्रम के अन्य विषयों में आगे बढ़ाए। और 1972 में शुरू किए गए हो.वि.शि.का. के अजेंडा को आगे बढ़ाने के लिए जो पहली टीम एकलव्य की छतरी तले जुटी थी वह सामाजिक अध्ययन की टीम थी। 1982 से हमने साथ आकर इन लक्ष्यों को सामने रखते हुए सामाजिक विज्ञान के लिए कुछ शिक्षण विधियों पर विचार शुरू कर दिया था। ये वे लक्ष्य थे जिन्हें हो.वि.शि.का. ने अपने लिए निर्धारित किया था मगर इन्हें सामाजिक विज्ञान के शिक्षण के संदर्भ में अनूदित किया गया। मैं थोड़ी चर्चा उन बहसों की करूंगी जो इस संकल्पना विकास के दौरान हुई थीं। मगर इतिहास का विवरण पूरा करने के लिए, इतना और बता दूं कि 1986 में हमने वास्तव में सीखने की सामग्री या पाठ्य पुस्तकें बनाने का काम शुरू किया। और 1986 से 1990 के दरम्यान हमने कक्षा 6, 7 व 8 की पाठ्य पुस्तकों पर काम किया। हमने करीब 8-9 स्कूलों के 14-16 शिक्षकों के एक समूह के साथ काम किया। इस छोटी-सी अवधि में शिक्षकों के साथ हमारा काम वास्तव में पाठ्यक्रम विकास का ही हिस्सा था, यह सिर्फ शिक्षक समर्थन तंत्र का हिस्सा नहीं था। पाठ्यक्रम विकास की जिस प्रक्रिया में हम भिड़े थे, उसमें वे हमें भी बराबर का समर्थन दे रहे थे।

1986 से 1990 से शुरू करके ये किताबें 9 स्कूलों में आज़माई गई हैं और जब भोपाल का स्कूल कार्यक्रम से अलग हो गया तब यह कार्यक्रम 8 स्कूलों में जारी रहा। इन 8 स्कूलों में यह कार्यक्रम 1986 से 2002 तक चला और इन वर्षों में बच्चों और शिक्षकों के साथ अपने अनुभव के आधार पर तथा विभिन्न विषय विशेषज्ञों की समीक्षा के आधार पर हमने पाठ्य पुस्तकों में संशोधन किए। हमने औपचारिक रूप से कार्यक्रम की समीक्षा व मूल्यांकन के प्रयास भी किए मगर मध्य प्रदेश सरकार इस काम को ज़्यादा स्कूलो में फैलाने में नाकाम रही। वह सर्वथा अलग कहानी है, जो इस सम्मेलन का विषय नहीं है। वैसे हो सकता है कि दोपहर में विज्ञान शिक्षण के विस्तार के संदर्भ में हार्डी या कोई और शायद इनमें से कुछ मुद्दों की बात करे। मगर 2002 में हो.वि.शि.का. के बंद होने के साथ ही मध्य प्रदेश सरकार ने 8 स्कूलों में चल रहे इस छोटे-से कार्यक्रम को भी बंद कर दिया।

शुरू से ही हम अपने ज़िलों व अन्य ज़िलों के उन शिक्षकों के साथ काम करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं, जो हमारे द्वारा सामाजिक विज्ञान शिक्षण को बेहतर बनाने या बदलने के लिए किए गए काम में रुचि रखते हैं। यानी एक मायने में यह प्रयास और काम जारी है, किताबों का उपयोग संदर्भ व स्रोत सामग्री के रूप में और शिक्षण प्रशिक्षण सामग्री के रूप में किया जा रहा है मगर हो.वि.शि.का. की ही तरह हमारा कार्यक्रम अब लागू नहीं है। इसे फिलहाल पूर्ण पाठ्यक्रम के रूप में भी कहीं भी क्रियान्वित नहीं किया जा रहा है। हो.वि.शि.का. के ही समान इस कार्यक्रम ने भी राजस्थान, छत्तीसगढ़, असम, लद्दाख वगैरह में तरह-तरह से योगदान दिया है, जहां एकलव्य एक स्रोत संस्था के रूप में पाठ्यक्रम विकास के काम में मदद कर रहा है। तो यह था कार्यक्रम का एक मोटा-मोटा खाका।

अब वापिस इस बात पर लौटें कि यह कार्यक्रम था क्या। यहां मैं आपको अटकलें लगाने के लिए छोड़ दूंगी क्योंकि हम अब तक पाठ्यक्रम सामग्री के विकास पर काफी चर्चा कर चुके हैं, हमने वैज्ञानिक विधि,

आलोचनात्मक जांच-पड़ताल वगैरह पर काफी चर्चा की है और इस दृष्टि से सुबह का सत्र काफी विचारोत्तेजक व रोचक रहा है। तो आप यह अंदाज़ लगा सकते हैं कि इन लक्ष्यों के मद्देनज़र हमने क्या सोचा होगा कि सामाजिक विज्ञान शिक्षा कैसी होनी चाहिए। मगर एक बार फिर सुबह के सत्र से जोड़ते हुए, मैं एक खास बिंदु पर ध्यान केंद्रित करना चाहूंगी। यह एक महत्वपूर्ण फर्क है जो आपमें से कई लोग पहले से जानते हैं और महसूस कर रहे हैं मगर शायद पिछले दो दिनों में कह नहीं पाए हैं, खासकर इसलिए कि पिछले दो दिनों में भौतिक विज्ञान इतने हावी रहे हैं। मगर अब मैं इसे कह देती हूं। एक प्रमुख अंतर, मैं यह तो नहीं कहूंगी कि यह प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के बीच प्रमुख अंतर है, मगर जिन चीज़ों को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और जिन परिघटनाओं को हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाते, उनके बीच एक बड़ा अंतर है। ऐसी परिघटनाएं प्राकृतिक विश्व में भी हो सकती हैं और सामाजिक विश्व में भी। और आज सुबह अमिताभ वैज्ञानिक विधि व इसके विस्तार की सीमाएं बता रहे थे, वे ब्रह्मांड विज्ञान, खगोल शास्त्र वगैरह का ज़िक्र कर रहे थे जिनका हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते और उन्हीं विधियों से उनका अध्ययन नहीं कर सकते। स्वाभाविक है कि सामाजिक विश्व में भी, चाहे कोई चीज़ अतीत में घटी हो या चाहे मेरे परिवार में घट रही हो, जैसे कोई अभी यह कह रहा था 'जब मैं पैदा हुआ था', तो मुझे कैसे पता, मैंने तो अपने जन्म का अनुभव नहीं किया, मुझे नहीं पता कि उस समय क्या हुआ था। ऐसी तमाम चीज़ें हैं और ये इतनी आम चीज़ें हैं कि मैं इनके विस्तार में नहीं जाऊंगी। मगर ऐसे बेशुमार सामाजिक अनुभव हैं, ऐतिहासिक अनुभव हैं, दुनिया के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले लोगों के तमाम अनुभव हैं - और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में क्यों, सत्यजीत यही पूछ रहे थे - आप इन सबकी बात कैसे करेंगे, यदि आप प्रायोगिक विज्ञान द्वारा प्रयुक्त विधियों के अलावा विधियों का उपयोग न करें, तो आप किसी बच्चे को दिल्ली नाम के किसी शहर के बारे में कैसे बताएंगे।

मैं यह कहने की कोशिश कर रही हूं कि हालांकि हम सब अनुभव से सीखने को महत्व देते हैं, मगर इसमें पेंच यह है कि हमें वह अनुभव होना ज़रूरी है। जब आपके पास अनुभव होता है, तो आप उस अनुभव के आधार पर सीखते हैं। मगर हमारे पास हर प्राकृतिक, सामाजिक या अन्य चीज़ का अनुभव नहीं होता। लिहाज़ा शिक्षा का एक महत्वपूर्ण मकसद अनुभव हासिल करना है। और अनुभव हासिल करना कोई अकर्मक काम नहीं है, यह कोई एकतरफा बात नहीं है कि आप ऐसे अनुभवों को अपने अंदर भर लें जो आपने नहीं, किसी और ने महसूस किए हैं। मगर आप उस अनुभव को अपना अनुभव कैसे बनाते हैं? आप उस अनुभव पर मनन कैसे करते हैं और उसे अंगीकार कैसे करते हैं? और सीखने व शिक्षा का यह आयाम, अनुभवों से सीखने का यह आयाम सामाजिक विज्ञान के लिए विशेष महत्व रखता है।

हमने इस सवाल पर काम करते हुए महसूस किया कि मिडिल स्कूल सामाजिक विज्ञान पाठ्यक्रम का पहला काम यह होगा कि बच्चों को दुनिया के अन्य हिस्सों की सामाजिक परिघटनाओं के बारे में, सामाजिक परिस्थितियों के बारे में, सामाजिक संस्थाओं के बारे में अनुभव हासिल करने में सक्षम बनाए जिनका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है। और उन्हें ऐसी सामाजिक स्थितियों का अनुभव हासिल करने में सक्षम बनाए जो उनके अपने समय की नहीं है और ऐसी सामाजिक संस्थाओं के अंतर्गत सामाजिक हालात का अनुभव हासिल करने में सक्षम बनाएं जिनका उन्हें कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। तो अनुभव हासिल करने, बच्चों को अनुभव अर्जित करने में मदद करने को मिडिल स्कूल के सामाजिक विज्ञान पाठ्यक्रम के लिए हमने एक प्रमुख लक्ष्य के रूप में पहचाना।

अर्थ शास्त्र, नागरिक शास्त्र और यहां तक कि भूगोल में भी उन् लोगों के अनुभव जो आज जीवित हैं या आधुनिक या समकालीन ज़माने में जीवित थे, उनके द्वारा प्रस्तुत जानकारी, उनके द्वारा दिए गए विवरण, फोटोग्राफ्स वगैरह सबका उपयोग अनुभवों को साझा करने की सामग्री के रूप में किया जा सकता है। यह चीज़ इन विषयों को इतिहास से अलग करती है। इतिहास में हम इन स्रोतों से भी वंचित हैं क्योंकि वे लोग एक सर्वथा अलग समय में अस्तित्व में थे, जिस तक हम उसी तरह पहुंच नहीं सकते जैसे नागरिक शास्त्र, अर्थ शास्त्र या भूगोल की जानकारी या अनुभव तक पहुंच सकते हैं। और वास्तव में इतिहास शिक्षण में ही हमने सबसे ज़्यादा गर्दन फंसाई और कल्पना के भरपूर उपयोग का ज़ोखिम मोल लिया (मैं उम्मीद करती हूं कि कल जब विजय ने अपना पर्चा प्रस्तुत करते हुए कहा था कि कल्पना भी वैज्ञानिक विधि का अंग है, तो उनका आशय यही था)। मुझे यकीन है कि आप सभी लोग इस तरह की कल्पना को आलंकारिक कल्पना, हवाई किलों और आत्म-तुष्टि के लिए की गई कल्पनाओं से अलग देख पाएंगे। हम सबको इस तरह की कल्पनाओं का अधिकार है मगर एक अलग मकसद से। हमने पुनर्निर्माण के लिए कल्पना का सहारा लिया - प्रमाण-आधारित पुनर्निर्माण कल्पना - आपमें से कई लोग जानते ही होंगे कि इतिहासकार इसका उपयोग ऐतिहासिक जांच-पड़ताल व ज्ञान के निर्माण में महत्वपूर्ण वैध व आधिकारिक औज़ार के रूप में करते हैं क्योंकि किसी इकलौते प्रमाण या किसी एक स्रोत, यहां तक कि कई स्रोतों को मिलाकर भी आप इस बात की पूरी तस्वीर नहीं बना सकते कि कोई समाज कैसा था और लोग एक अलग समय में कैसे (क्यों की बात तो जाने ही दें) व्यवहार करते थे। विभिन्न स्रोत आपको जो निष्कर्ष या संकेत प्रदान करते हैं उनको आत्मसात करने के लिए आपको कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। इतिहासकारों की यह कल्पना जांच के दायरे में आती है, यह आस्था का विषय नहीं है। आप यह नहीं कह सकते कि 'मैंने ऐसा सोचा' या 'मुझे ऐसा लगा', क्योंकि यह समकक्ष इतिहासकारों और आम लोगों की जांच के दायरे में आता है। और मैं इस पर थोड़े और विस्तार में उस समय बात करूंगी जब मैं बताऊंगी कि हमने शिक्षकों के साथ कैसे काम किया।

चूंकि ऐतिहासिक कल्पनाएं जांच के दायरे में आती हैं, इसलिए यह सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि के उपयोग की एक वैध कवायद है। ऐतिहासिक विधि की इस समझ में गहरे आत्म विश्वास के साथ हमने कहानियां बनाईं, यदि आप इतिहास को रोचक बनाना चाहते हैं, तो ढेर सारी कहानियां सुनाइए। यह भी एक ऐसी विधि है जिसका उपयोग अधिकांश शिक्षक व अधिकांश आम लोग करते हैं मगर इसके लिए ज़रूरी गहनता के बगैर। वे सुनी-सुनाई कहानियां सुनाते रहते हैं। आप समझ ही जाएंगे कि हम इतिहास पढ़ाने की विधि के रूप में कहानियां सुनाने की इस वाली परंपरा से दूर गए हैं। हमने बच्चों को ऐतिहासिक अनुभव हासिल करने में मदद की दृष्टि से गहन ऐतिहासिक कल्पनाशीलता का सहारा लिया, इतिहासकारों के बीच इसकी जांच की, सत्यापित किया। इस मामले में इससे ज़्यादा करने को कुछ नहीं है। यह चलती हुई बहस है कि और क्या किया जाना चाहिए। हमने यह विधि आज़माई कि बच्चों को अलग-अलग प्रमाण व स्रोत दिए जाएं और उन्हें पुनर्निर्माण करने दें, निष्कर्ष निकालने दें, और हमने देखा कि यह बहुत खंडित रहता है, उन प्रमाणों से जो कुछ बनता है वह बहुत टुकड़ा-टुकड़ा रहता है। ऐसा कुछ नहीं बनता जिससे यह कल्पना करने का अनुभव हासिल हो कि एक सर्वथा भिन्न समाज कैसे संचालित होता है और काम कर सकता है। जब हमने यह खाई पहचानी - हमने यह ज़ोखिमभरा नवाचार किया था कि (छात्रों से) ये कहानियां बनवाएंगे और हमने जो प्रयास किया था, उसे लेकर हमें चेताया गया था, मगर मैं बताना चाहूंगी कि इतिहास और सामाजिक विज्ञान शिक्षण में अन्य कई नवाचार हुए हैं, जैसे दिल्ली एस.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तक, जो पूरी तरह इस पद्धति को नहीं अपनाते, फिर भी वे तथ्य उद्धरित करने, प्रमाण उद्धरित करने

और सवाल पूछने के दायरे में ही रहे हैं और फिर ऐसी सामान्य पाठ्य सामग्री का सहारा लिया है जो बच्चों के लिए अन्य समाजों के अनुभवों का सार प्रस्तुत करती है और निष्कर्ष प्रदान करती है।

यह हमारे द्वारा उठाए गए ज़ोखिम का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। मैं जल्दी ही इसकी चर्चा पूरी करके अन्य चीज़ों पर जाऊंगी। हमारा मानना था कि जैसे प्राकृतिक विज्ञान में जांच-पड़ताल करते हुए छात्र विश्लेषण और सत्यापन या प्रमाणित करने में समर्थ नहीं होते, जब तक कि उन्हें इसका प्रत्यक्ष अनुभव न कराया जाए या यह उनके दैनिक जीवन का अंग न हो या प्रयोग के ज़रिए इस अनुभव की बानगी न दी जाए। जब आपकी उस अनुभव पर पकड़ बन जाती है, तभी आप आगे सोचते हैं और विश्लेषण करते हैं, उस पर मनन करते हैं और उसकी तुलना किसी और चीज़ से करते हैं। यदि आप ऐसा नहीं कर पाते, किसी ने सुबह कहा था, तब आप किसी छोटी-सी चीज़ से चिपके रहते हैं और उसके बारे में सोच नहीं पाते। मगर यदि हम चाहते हैं कि बच्चे ऐतिहासिक परिस्थितियों और घटनाओं का विश्लेषण करें तो हमारे लिए यह बहुत ज़रूरी था कि वे यथासंभव उस अनुभव में डूब जाएं। और जब वे इस अनुभव में डूब जाएं, और जब उनका जानकारी का आधार समृद्ध हो, तब हम उनसे पूछ सकते हैं, "क्या तुम इस परिस्थिति और उस परिस्थिति की तुलना कर सकते हो? ये चीज़ें बदल क्यों रही थी? (या वे क्यों नहीं बदल रही थीं?)" बच्चे को इसकी प्रत्यक्ष पकड़ है। और इसके लिए बहुत ज़रूरी था कि हम ये कहानियां रचें, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों का पुनर्निर्माण करें। मगर जैसा कि मैंने कहा, ये मात्र बोझ कम करने के लिए नहीं थीं, ये सजावटी विवरण नहीं थे, ये तो बच्चों को अनुभव हासिल करने में मदद देने के लिए बनाए गए वृत्तांत थे ताकि उनकी विश्लेषण व व्याख्या की कुशलताओं को पैना बनाया जा सके। हमने इनका उपयोग इसी तरह किया। हमने इनका उपयोग सिर्फ कहानियां सुनाने के लिए नहीं किया।

यह सब कहने के बाद मैं इस बात पर आती हूं कि इस पर हमने शिक्षकों के साथ कैसे काम किया। हमने कई शिक्षक कार्यशालाएं आयोजित कीं और सबका उद्देश्य अलग-अलग था। जैसे आप देख सकते हैं कि शिक्षक इन कार्यशालाओं में क्या-क्या करते थेः हमारे अध्यायों की समीक्षा, हमारे साथ अध्यायों में अपेक्षित चर्चा का अभ्यास, अनुसंधान, हमने जो पुनर्निर्माण किया है, उसके लिए प्रमाणों की मांग करना ('आप किस आधार पर ये कह रहे हैं?')। और यह सामाजिक विज्ञान शिक्षक कार्यशालाओं का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था कि हमारे पासे जो भी ऐतिहासिक, पुरातात्विक, शिलालेखों से प्राप्त, पाठ्य सामग्री से प्राप्त प्रमाण थे, वे शिक्षकों के सामने प्रस्तुत किए गए जिनकी वे खुद जांच कर सकते थे। हमारे लिए यह महत्वपूर्ण था कि वे इन स्रोतों के समझ सकें, उपयोग कर सकें, उसके बारे में चर्चा कर सकें और आश्वस्त हो जाएं कि हमने प्रमाणों के आधार पर जो कुछ बनाया है वह ऐसा है जिस पर वे भरोसा कर सकते हैं। कोई भी इतनी आसानी से आश्वस्त नहीं हो सकता क्योंकि यह भी एक किस्म की सत्ता है - मेरी इन सारे प्रमाणों तक पहुंच है, मैंने सारे अध्ययन किए हैं, मैं इन्हें आपके पास लेकर आई हूं। आप ज़्यादा कुछ कर नहीं सकते और आप यह देख सकते हैं कि मैं बहुत संजीदा हूं और चर्चा के लिए तैयार हूं। यह अपने आप में सत्ता का एक स्रोत बन जाता है और वे भले शिक्षक थे, उन्होंने हमसे काफी पूछताछ की और फिर तैयार हो गए - "यह काफी विश्वसनीय लगता है, ये लोग हेराफेरी नहीं कर रहे हैं, ये हमें उल्लू नहीं बना रहे हैं, इन्होंने हमारे सारे सवालों पर चर्चा की तैयारी दिखाई है।" हो सकता है उनके मन में सवाल अब भी हों, मैं मानती हूं, मगर यह वैज्ञानिक विमर्श का हिस्सा है कि उनके मन में आज भी सवाल हैं और हम आज भी उन पर चर्चा करने को तैयार हैं। मगर शिक्षकों के साथ अपने काम में प्रमाणों को साझा करना हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण था, और शायद यह बताना भी मुनासिब होगा कि इतिहास (या भूगोल भी) कैसे पुनर्निर्मित किया जाता है, शिक्षकों को यह समझने में

शामिल करने की एक प्रक्रिया के रूप में हमने एक प्रोजेक्ट शुरू किया था जो काफी धीमी गति से चल रहा है। जैसे शिरीन रत्नागर और अजय दांडेकर की एक किताब है *भारतीय इतिहास के स्रोत*, जिसकी संकल्पना करने व प्रकाशित करने में एकलव्य ने मदद की है। और यह किताब खास तौर से सामाजिक विज्ञान के शिक्षकों के लिए तैयार की गई है। मैं इसकी भूमिका से कुछ पंक्तियां पढ़ना चाहूंगी। इसमें कहा गया है:

"एकलव्य से जुड़े शिक्षक एक बड़ी ही विशेष स्थिति के मालिक हैं। उन्हें कई सालों से यह अनुभव करने का मौका मिलता रहा है कि ऐतिहासिक जानकारी क्या है और उसका अध्ययन कैसे किया जाता है। वे चर्चाओं और वाद-विवादों के अभ्यस्त हुए हैं और इस धारणा से परिचित हैं कि समाज विज्ञान में समस्याओं का कोई एक तय समाधान मिलना ज़रूरी नहीं, कई तरह के समाधान हो सकते हैं।...'ऐसा ही है' के ज़ोरदार दावे ठोकना (इस किताब का उद्देश्य) नहीं है। जवाब सही है या गलत इस बात का इतना महत्व नहीं है, जितना यह कि प्रश्नों से जूझने में पाठक कितनी सहजता महसूस करते हैं। किसी अध्याय का सफल अध्ययन करने की निशानी इसी बात में होगी।"

एक बार फिर यह हमारा प्रयास है कि उन चीज़ों को अलग-अलग किया जाए जो हमारे विचार में मिडिल स्कूल के बच्चों के लिए उपयुक्त हैं और जो चीज़ें शिक्षकों के लिए उपयुक्त हैं, उनके साथ की जानी हैं। हमें लगा कि छात्रों के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि हम उन्हें पुनर्निर्मित अनुभव दें, क्योंकि उनकी उम्र ऐसी नहीं है या उनमें वह परिपक्वता नहीं है कि वे खुद प्रमाणों की बहस में शामिल हो सकें। मतलब यह नहीं कि पाठ्य पुस्तकों में प्रमाणों का उपयोग नहीं किया गया है मगर सीमित रूप में किया गया है। दूसरी ओर शिक्षकों के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि वे खुद, हमारे साथ बराबरी से, प्रमाण सम्बंधी विमर्श में जुड़ें जो सामाजिक विज्ञान में ज्ञान के निर्माण में प्रयुक्त होता है। शिक्षक बच्चों की शिक्षा में अध्यायों की भूमिका सम्बंधी चर्चा में भी शामिल थे। कार्यशालाओं के दौरान वे अपने जीवन के अनुभवों और एहसासों की चर्चा करते, और उनके आनुभविक ज्ञान को शिक्षक कार्यशालाओं के लिए पाठ्यक्रम का दर्जा मिलता था। ऐसा नहीं होता था कि हम किसी खास अध्याय को पूरा करना चाहते थे, हम तो सामाजिक विज्ञान में सीखने का कार्य करना चाहते थे। शिक्षक जो कुछ कहना चाहते थे और अपने जीवन से जो कुछ लाना और जोड़ना चाहते थे, वह विमर्श का एक अभिन्न अंग होता था। यह सब मैं इसलिए बता रही हूं कि चूंकि इस पूरे उद्यम में हम शिक्षकों को बराबर का साझेदार मान पाए थे इसीलिए आगे चलकर वे भी कक्षा में अपने छात्रों के साथ यही सम्बंध बना पाए थे। वास्तव में मिडिल स्कूल में सामाजिक विज्ञान का बुनियादी पैराडाइम परिभाषित करने में शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

एक उदाहरण देती हूं - और शायद मुझे यह बताना चाहिए कि यह 'हम' कौन है, और 'वे' कौन हैं जिनकी बात मैं कर रही हूं। बहुत अच्छा हो यदि हम शिक्षकों व स्वयं अपने लिए एक सामान्य शब्द एजुकेटर का उपयोग करें। हम सब एजुकेटर्स थे, और हम बच्चों को शिक्षित करने का कार्यक्रम विकसित करने की कोशिश कर रहे थे - इस अर्थ में हम एजुकेटर्स थे। बतौर एजुकेटर्स हम में से कुछ लोगों को यह बात स्पष्ट थी कि सामाजिक विज्ञान सीखने से आलोचनात्मक सोच और स्थितियों व ढाचों के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण को बढ़ावा मिलना चाहिए। जैसे नागरिक शास्त्र के हमारे अध्यायों में जहां हम पंचायत और नगर पालिका की चर्चा करते हैं, तो उन अध्यायों में वे कानून दिए जाएंगे जिनके तहत पंचायतों का गठन होता है और फिर चर्चा की जाती है कि क्या पंचायतें वास्तव में उस ढंग से काम करती हैं। क्या वे इस तरह का काम कर

पाती हैं? और फिर एक विवरण दिया जाता है कि कैसे कई मामलों में बतौर एक संस्था पंचायतों का दुरुपयोग होता है और फिर यह विश्लेषण करने की कोशिश होती है कि इन संस्थाओं के दुरुपयोग के लिए कौन ज़िम्मेदार है। यह मुद्दा शिक्षकों ने उठाया था। पहले तो इसके खिलाफ उनकी तीव्र प्रतिक्रिया थी कि यह सामाजिक विज्ञान शिक्षा का सही ढांचा नहीं है। उनका कहना था कि यह बहुत ज़रूरी है कि सकारात्मक विश्वास दर्शाया जाए, छात्रों में यह सकारात्मक उम्मीद बनाई जाए कि वे कैसे इन सामाजिक समस्याओं के बारे में कुछ कर सकते हैं। समस्याएं हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। पहली प्रतिक्रिया तो यह थी कि सामाजिक संस्थाओं व प्रक्रियाओं की किसी भी आलोचनात्मक जांच-पड़ताल को पाठ्य पुस्तक में स्थान नहीं मिलना चाहिए। पाठ्य पुस्तक में सही जानकारी दी जानी चाहिए मगर सामाजिक मुद्दों की आलोचनात्मक जांच-पड़ताल में नहीं पड़ना चाहिए। इस पर हमने कहा कि यदि वे सामाजिक प्रक्रियाओं को आलोचनात्मक जांच-पड़ताल के दायरे में रखना नहीं चाहते तो सामाजिक विज्ञान अध्यापन का मकसद क्या है? मकसद छात्रों या शिक्षकों के दिमाग में कुछ तथ्यों का अंबार ठूंसना मात्र नहीं है।

मुझे यह बताते हुए खुशी है कि काफी खुली बहस और चर्चा के बाद शिक्षक राज़ी हो गए थे। फिर भी उन्हें लगता था कि खालिस आलोचनात्मक अध्याय, जिनमें सकारात्मक उदाहरण न हों, ऐसे अध्याय शैक्षिक उद्यम के लिए उपयुक्त नहीं हैं। और यह एक चीज़ है जिस पर हमने सोचा नहीं था। हमने इसके बारे में सोचा और पाया कि यह बात सही है। हम लोगों के उदाहरण दे सकते हैं, चाहे वे कुछ हद तक काल्पनिक ही क्यों न हों, मगर वे हमेशा काल्पनिक नहीं होते, सभी परिस्थितियों में ऐसे लोग होते हैं जो संस्थाओं का उपयोग अच्छे कामों के लिए कर पाए हैं, संघर्ष करके, लड़कर सफल कहानियां निर्मित कर पाए हैं। तो ऐसे लोगों के उदाहरण अध्यायों के हिस्से होना चाहिए जो संघर्ष करके बुराइयों को रोक पाए हैं और ऐसा कुछ क्रियांवित करवाने के रास्ते खोज पाए हैं जो लोगों की खुशहाली के लिए बेहतर हो।

इसी प्रकार से एक मामला था जब हम मध्यकालीन गांवों की चर्चा कर रहे थे। उनमें ब्राह्मणों को भूमि दान देने की और मंदिरों को भूमि दान देने की एक परंपरा थी। हम दक्षिण भारत के एक मंदिर के विवरण पर आधारित प्रमाण दे रहे थे जबकि कोर्स में कई शिलालेख हैं जिन पर छात्रों को चर्चा करना है और इन शिलालेखों का सम्बंध विभिन्न त्यौहारों के आयोजन वगैरह से है। और एक शिलालेख में यह भी कहा गया है कि एक ब्राह्मण को भूमि दान दिया गया था और वास्तव में उसने मंदिर की ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया था और यह दिखाने की कोशिश की थी यह उसकी अपनी ज़मीन है। फिर जब मंदिर को इस बात का पता चला तो उन्होंने ब्राह्मण को दण्ड दिया। तब ब्राह्मण ज़मीन लौटाने को तैयार हो गया। शिक्षक, जो अधिकांश ब्राह्मण हैं, भौंचक्के थे। एक ने कहा, "आप ऐसा कैसे कह सकते हैं? क्या ब्राह्मण चोरी करेंगे? ऐसी बात कैसे कह सकते हैं?" मैंने कहा, "मैं नहीं जानती कि ब्राह्मण चोर हो सकते हैं या नहीं मगर यह मंदिर का शिलालेख है, ये इसकी तारीख है और इसमें यही कहा गया है। इसमें कई और बातें कही गई हैं। ऐसा नहीं है कि यह ब्राह्मण विरोधी है, यह तो एकदम तथ्यात्मक है, यह कई और बातें कहता है और यह भी कहता है। तो उन लोगों को 10वीं सदी में इस बात को लिखने में, पत्थर पर खोदने में कोई दिक्कत नहीं थी। और यहां जब यह पाठ्य पुस्तक में आता है, तो हमें क्या दिक्कत है?" वे हड़बड़ा गए, उन्होंने बच्चों से पूछा, "तुम्हें पता है, यहां क्या लिखा है? तुम्हें लगता है ब्राह्मण चोर हो सकते हैं?" मैंने कहा, "हमने ये स्रोत दिए हैं,

आप इसे जानते हैं, आपने प्रशिक्षण में इस पर चर्चा की थी।" फिर वे ठंडे हुए और खुद ही स्थानीय ब्राह्मण ज़मींदारों के उदाहरण देने लगे, जिन्होंने बेनामी सौदों की मदद से अपनी ज़मीनें अपने नौकरों, और गाय-बकरियों के नाम कर दी थीं, यह ऐसी बात है जो भारत में हर कोई जानता है।

मैं यह कहने की कोशिश कर रही हूं कि हम बच्चों के लिए सामाजिक विज्ञान का एक ऐसा पाठ्यक्रम बनाने में कुछ आगे बढ़ पाए हैं जो सोचने पर आधारित था, आलोचनात्मक सोच पर आधारित था, यह अन्य स्थानों व अन्य समयों के बारे में अनुभव हासिल करने व साझा करने पर तथा अन्य लोगों के अनुभव के प्रकाश में स्वयं अपने अनुभवों पर विचार करने पर आधारित था। और इसलिए ज्ञात और अज्ञात के बीच का विभाजन, 'यहां-इस वक्त' और 'अन्यत्र' के बीच का विभाजन, इस विभाजन को पाटने के तरीके हैं और शिक्षकों के साथ इस बात पर एक सहमति बनाई जा सकती है कि यह कैसे किया जा सकता है और उनके साथ शिक्षा की, समाज की एक नई दृष्टि विकसित की जा सकती है। दरअसल, 'शिक्षक समर्थन तंत्र' की बात करना मुश्किल है क्योंकि आपको उन्हें पुनः परिभाषित करने की ज़रूरत है। हमारे अनुभव में, हमने शिक्षकों के साथ जो कुछ किया वह तो पाठ्यक्रम विकास के लिए समर्थन का तंत्र था। यह बच्चों के विकास के लिए समर्थन तंत्र था, यह ज्ञान के विकास के लिए समर्थन तंत्र था। मैं इनके बीच भेद नहीं कर सकती, गोया बच्चों का विकास और पाठ्यक्रम का विकास और ज्ञान का विकास कहीं अलग था और शिक्षकों का विकास अलग था। मेरे लिए तो ये सब साथ-साथ हो रहे थे। शुक्रिया।

नगेंद्र नागपाल

सबसे पहले तो मैं आयोजकों का शुक्रगुज़ार हूं कि उन्होंने मुझे सम्मेलन में बोलने का अवसर दिया। मैं शुरू में ही कह दूं कि दो कारणों से मैं शिक्षा के दर्शन या विज्ञान के दर्शन पर कुछ नहीं कहूंगाः पहला, मुझे लगता है कि मैं इतने विद्वान लोगों के बीच इस विषय पर बोलने के लिए सक्षम नहीं हूं। और दूसरी बात यह है कि मैं आपका ध्यान शिक्षक समर्थन तंत्रों की मैदानी हकीकतों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं। दरअसल मैं पिछले 10-15 वर्षों से स्कूलों के साथ काम करता रहा हूं, तो मैं अपने मैदानी अनुभव के बारे में कुछ कहना चाहूंगा।

सबसे पहले यह देखें कि फिलहाल हमारे स्कूलों में किस तरह के समर्थन तंत्र मौजूद हैं। बड़े पब्लिक स्कूलों को छोड़ दें, मैं सरकारी स्कूलों और अधिकांश प्रायवेट स्कूलों की बात कर रहा हूं। छात्रों के लिए जो एकमात्र समर्थन तंत्र मौजूद है वह शिक्षक है। और हमारी व्यवस्था में किस तरह के शिक्षक उपलब्ध हैं? कोई व्यक्ति आम तौर पर स्नातक होने के बाद, बाकी सारे कैरीयर विकल्पों में असफल रहने पर शिक्षक बन जाता है। अंततः शिक्षण को एक कैरीयर के रूप में स्वीकार करते समय भी उसको चिंता इसी बात की रहती है कि चलो किसी तरह सरकारी नौकरी मिल जाए, तो उसे जीवन के हर मोड़ पर संघर्ष नहीं करना होगा और खुद को साबित नहीं करना होगा। इसलिए वह एक स्थायी नौकर की तलाश में होता है। स्कूल में शिक्षक के रूप में जॉइन होने से पहले वह बी.एड. या एस.टी.सी. जैसे सेवा-पूर्व प्रशिक्षण से गुज़र चुका होता है। आप सब जानते हैं कि सेवा-पूर्व प्रशिक्षण के नाम पर क्या परोसा जा रहा है। कट्टर शिक्षाविदों द्वारा तैयार किए गए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे में वे कहते हैं (मैं उस ढांचे से उद्धरण दे रहा हूं), "वर्तमान शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में ज्ञान को पूर्व प्रदत्त माना जाता है। प्रशिक्षकों से उम्मीद नहीं की जाती कि वे पाठ्यक्रम, सिलेबस

या पाठ्य पुस्तकों की आलोचनात्मक जांच करें। शिक्षकों से अपेक्षा की जाती है कि वे वर्तमान सिलेबस से तालमेल बनाएं। यहां भी यह मान लिया गया है कि वे आसानी से बच्चों के बारे में, ज्ञान के बारे में और सीखने के बारे में अपनी मान्यताओं को दरकिनार कर सकते हैं। अलबत्ता, अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं होती कि प्रशिक्षक अपने अनुभवों और मान्यताओं पर मनन कर सकें, इसलिए ये कार्यक्रम शिक्षकों को परिवर्तन के कर्ता के रूप में सशक्त बनाने में असफल रहते हैं। लिहाज़ा ऐसे कार्यक्रम उन्हें सलीकेदार पाठ योजना बनाना तो सिखाते हैं, मगर प्रशिक्षुओं को (पाठ्यक्रम में) निहित मान्यताओं तथा उन पर आधारित क्रियाओं के परिणामों के प्रति सचेत बनाने में असफल रहते हैं।"

यह है सेवा-पूर्व कार्यक्रम। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम के बाद शिक्षक स्कूल में प्रवेश करता है। अब हम खुशकिस्मत हैं कि पिछले दो दशकों में देशी-विदेशी फंड से चलने वाले तमाम कार्यक्रमों के ज़रिए एक शिक्षक समर्थन तंत्र निर्मित करने के प्रयास हुए हैं। मैं सर्व शिक्षा अभियान की बात करूंगा क्योंकि यह मॉडल आपको कमोबेश सब जगह देखने को मिलेगा। इसमें एक 20-दिवसीय शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम होता है, इसके अंतर्गत 9 दिन का शिक्षक प्रशिक्षण, 3 दिन सीखने-सिखाने की सामग्री (टीएलएम) कार्यशाला, और 8 दिन की मासिक गोष्ठियां होती हैं। टीएलएम को एक महत्वपूर्ण सहारा माना गया है और इसके लिए प्रति वर्ष 500 रुपए का प्रावधान है। सुविधाओं के लिए सालाना 2000 रुपए का अनुदान होता है। इस कार्यक्रम में बी.आर.सी. (ब्लॉक स्रोत व्यक्ति), सी.आर.सी. (क्लस्टर स्रोत व्यक्ति) और ज़िला शिक्षा व प्रशिक्षण संस्थाएं (डाइट्स) और राज्य शिक्षा व प्रशिक्षण संस्थान (एस.आई.ई.आर.टी.) वगैरह हैं। यह प्रशासनिक तंत्र से अलग है, जिसमें ब्लाक शिक्षा अधिकारी और ज़िला शिक्षा अधिकारी होते हैं। और फिर एक्शन रिसर्च और शिक्षकों को अनुसंधान में जोड़ने के लिए फंड है। आप देखेंगे कि शालेय शिक्षा प्रबंधन समितियां अब हर जगह हैं। ये समितियां समर्थन तंत्र के निर्माण में सामुदायिक नेताओं, शिक्षाविदों, और स्कूली शिक्षकों को जोड़ती हैं। पालक शिक्षक संघ भी मौजूद हैं। आपको नहीं लगता कि हम एक शानदार युग में जी रहे हैं? मेरे ख्याल में तो इसमें वह सब शामिल है जिसकी हम किसी शिक्षक समर्थन तंत्र में कामना कर सकते हैं। मगर अब देखिए कि हकीकत में क्या होता है।

सबसे पहले देखें कि शिक्षक प्रशिक्षण किस तरह का है। कागज़ पर तो लगता है कि हर चीज़ के बारे में सोच लिया गया है, सारे प्रावधान मौजूद हैं। वह सब मौजूद है जो शिक्षक प्रशिक्षण के लिए आपको ज़रूरी लगता हैः ज़रूरतों के आकलन का प्रावधान, प्रशिक्षण शुरू होने से पहले मॉड्यूल का निर्माण, प्रमुख स्रोत व्यक्तियों के चयन की कसौटियां, उनका उन्मुखीकरण, उस्ताद प्रशिक्षकों के चयन के मापदण्ड और उनका उचित उन्मुखीकरण, और इसके बाद शिक्षक प्रशिक्षण। इसके बाद समीक्षाएं हैं और हर चीज़ शामिल है। शिक्षक प्रशिक्षण के लिए प्रावधान व पर्याप्त फंड उपलब्ध हैं। कोई समस्या नहीं है। मगर यदि आप यह देखें कि वास्तव में होता क्या है, तो मुझे यकीन है कि आपको शर्म आएगी कि आपने यह व्यवसाय चुना है। मैं कई प्रशिक्षणों में मौजूद रहा हूं और मुझे समझ में आया है कि मुझे हर बार यही लगता है।

कागज़ पर तो हर चीज़ बढ़िया दिखती है मगर मुझे हर प्रशिक्षण में यही नज़र आता है, सारा समय और पैसा सिर्फ लक्ष्य पूरे करने में खर्च होता है। कोई इसमें मन से काम नहीं करता और हर चीज़ मशीनी और लक्ष्य-चालित लगती है। शुरुआत होती है राज्य स्रोत व्यक्तियों के प्रशिक्षण से और फिर संदेश उस्ताद प्रशिक्षकों (मास्टर ट्रेनर्स) को प्रसारित किया जाता है (राज्य स्रोत व्यक्ति उस्ताद प्रशिक्षकों को प्रशिक्षण देते हैं और उस्ताद प्रशिक्षक शिक्षकों को)। जो संदेश रिसकर नीचे पहुचता है वह यह होता है कि "येन-केन-प्रकारेण

इसे पूरा करो। आपको प्रशिक्षण में मॉड्यूल पूरा करना है, शिक्षकों या प्रशिक्षुओं को बोलने मत देना। इसके अनुसार चलो और बाकी जो मर्ज़ी कर सकते हो।"

तो वास्तव में यही संदेश है। मैंने प्रशिक्षण सत्रों के दौरान उस्ताद प्रशिक्षकों और शिक्षकों को ताश खेलकर समय बिताते देखा है। विश्वास नहीं होता मगर यही हकीकत है। प्रशिक्षण के हर स्तर पर मैंने यह सुना है कि प्रशिक्षक तो पूरी तरह फालतू हैं, और वे प्रशिक्षुओं की ज़रूरतें पूरी नहीं कर पाते। प्रशिक्षकों की कोई गहन तैयारी नहीं होती।

अब बात करते हैं टी.एल.एम. के लिए 500 रुपए के प्रावधान की। यदि आप सर्व शिक्षा अभियान या किसी भी प्रोजेक्ट की बात करें, तो फंड और प्रावधान होते हैं। वास्तव में होता यह है कि यह सारा पैसा प्रधान पाठकों के कमरे या कक्षा के लिए सजावटी चीज़ें बनाने में खप जाता है क्योंकि उन्हें संदेश यह मिला है कि "आप इस पैसे के लिए जवाबदेह हो। यदि इंस्पेक्शन हुआ, तो आपको दिखाना होगा कि आपने क्या किया है।" सबसे निचले स्तर तक उपयुक्त संदेश नहीं जाता, यह एक और समस्या है।

हाल में हमने राजस्थान में शिक्षा व्यवस्था का एक अध्ययन किया था। हमने स्कूलों के कामकाज का सघन अध्ययन किया। आपको यह जानकर हैरत होगी कि ऐसे कई स्कूल हैं जहां पिछले पांच वर्षों में कोई सी.आर.सी.एफ., बी.आर.सी.एफ., डी.ई.ओ. या बी.ई.ओ. तक नहीं पहुंचा है, किसी उच्च अधिकारियों की तो बात ही जाने दें। राजस्थान में हर जगह डाइट्स हैं। अधिकांश डाइट्स में 35 फेकल्टी पद हैं। फिलहाल चार पद भरे हैं, शेष रिक्त हैं। हर व्यक्ति 10-10 विभागों का प्रमुख है। यह वास्तविक हालत है। फिर भी मुझे लगता है, मैं उम्मीद करता हूं कि हमें इन प्रावधानों को सही ढंग से लेना चाहिए, यह एक उपयुक्त उत्तरदायी शिक्षक समर्थन तंत्र हो सकता है।

कुछ वर्ष पहले हमें कुछ स्कूलों में काम करने का मौका मिला था। मॉडल तो हो.वि.शि.का. आधारित ही था, मगर चूंकि हम राज्य सरकार के साथ काम कर रहे थे, इसलिए परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन करने पड़े थे। हमारे नियंत्रण से बाहर की कुछ समस्याओं के चलते हम कार्यक्रम पूरा न कर सके। मगर मुझे लगता है कि उस कार्यक्रम के जो नतीजे हमें मिले, उनसे एक दिशा नज़र आती है जिस पर चलकर शिक्षकों के साथ काम करते हुए, उनका फीडबैक लेते हुए और उनकी वास्तविक ज़रूरतों को पहचानते हुए हम एक उपयुक्त शिक्षक समर्थन तंत्र विकसित कर सकते हैं, शिक्षकों की ज़रूरत की समझ पर आधारित एक शिक्षक प्रशिक्षण विकसित कर सकते हैं। हम जानते हैं कि उच्च प्राथमिक स्कूल में शिक्षक आम तौर पर स्नातक होता है, जिसने शायद वाणिज्य या कला का अध्ययन किया होगा, और जिससे उम्मीद की जाती है कि वह किसी भी कक्षा में कोई भी विषय पढ़ाए; कक्षा 8 तक कोई विषय शिक्षक नहीं होता। तो हो सकता है कि एक साल शिक्षक से विज्ञान पढ़ाने को कहा जाए, तो अगले साल उसे किसी और विषय में भेज दिया जाए। यानी उसे विशेषज्ञता हासिल करने का कोई मौका नहीं मिलता।

दूसरी चीज़ जो मुझे महत्वपूर्ण लगती है, वह है शिक्षक निर्देशिकाएं व पूरक सामग्री तैयार करना। पाठ्य पुस्तक की सीमाएं होती हैं मगर पूरक सामग्री में थोड़ी आज़ादी होती है। हम शिक्षक के विषय वस्तु के ज्ञान को समृद्ध कर सकते हैं, शिक्षा पद्धति के मुद्दों की बात कर सकते हैं, और भी बहुत कुछ कर सकते हैं।

मैं मासिक गोष्ठियों की बात करना भूल गया। आम तौर पर मासिक गोष्ठियां रस्म आदायगी होती हैं। मगर

यदि इनका सही उपयोग किया जा सके, तो ये मध्यावधि समीक्षा का काम कर सकती हैं क्योंकि प्रशिक्षण में तो हमें शिक्षकों से मिलने का मौका साल में एक बार ही मिलता है। इन मासिक गोष्ठियों को मध्यावधि प्रशिक्षण माना जा सकता है, इनमें पिछले माह कक्षा में किए गए अध्यापन कार्य का पुनरावलोकन हो सकता है और अगले माह की योजना बनाई जा सकती है। एक और चीज़ है न्यूज़लेटर। यह बात मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं। इसके कई उदाहरण हैं, मगर मुझे एक उदाहरण महत्वपूर्ण लगता है। हम लोग स्कूलों में जाया करते थे और वह चीज़ प्रदान करते थे जो हमें लगता था कि शिक्षकों के लिए सहारा है। हम उनसे बातचीत करते थे और एक बार मुझे लगा कि सबको यह दिक्कत है कि प्रायोगिक परीक्षा कैसे करें। वापिस अपने दफ्तर लौटते ही, हमने एक न्यूज़लेटर की योजना बनाई जिसमें हमने यह बताया कि प्रायोगिक परीक्षा कैसे करें और तुरंत स्कूलों को भेज दिया। उन्होंने बताया कि यह बहुत उपयोगी रहा। यानी मैदानी परिस्थिति से कोई तात्कालिक समस्या उठाई जा सकती है और न्यूज़लेटर के माध्यम से उस पर बात की जा सकती है। यह भी बहुत महत्वपूर्ण है।

मुझे लगता है कि डाइट और एस.सी.ई.आर.टी. में क्षमता निर्माण का काम होना चाहिए। मेरे ख्याल में यही मुद्दे थे जिन्हें मैं यहां रेखांकित करना चाहता था। एक बात और कहना चाहता हूं। शायद आपको लगेगा कि यह सब वास्तव में संभव नहीं है। मगर मुझे अपने अनुभव से लगता है कि यदि हम निश्चय कर लें तो ये सब चीज़ की जा सकती हैं।

हृदय कांत दीवान

इस प्रस्तुतीकरण में रमा कांत और साधना भी सहभागी हैं। मगर मैं जो कुछ कहूंगा, ज़रूरी नहीं कि वे उससे सहमत होंगे क्योंकि मैं यह छूट लूंगा कि जो कुछ सहमति हुई थी उससे थोड़ा-बहुत इधर-उधर भी जाऊं। जिन चीज़ों की चर्चा हमने की थी, उनमें से कुछ तो पहले ही साझा की जा चुकी हैं। एक चीज़ जो पिछले तीन प्रस्तुतीकरण से नज़र आती है वह है कि आज एक ऐसी स्थिति है जहां कई सारे ढांचे बनाए गए हैं और मौजूद हैं। ये वही ढांचे हैं जो एकलव्य ने अपने हो.वि.शि.का. कार्यक्रम में सोचे थे। इनमें सघन शिक्षक प्रशिक्षण, फॉलो-अप, क्लस्टर-स्तरीय और ब्लॉक-स्तरीय ढांचे तथा शिक्षकों के बीच आदान-प्रदान की व्यवस्था शामिल हैं। इनमें यह भी शामिल है कि शिक्षकों को ऐसी सामग्री प्राप्य हो जिनका उपयोग वे कक्षा में कर सकें। और मासिक गोष्ठी की व्यवस्था के साथ यह संभव है कि शिक्षक आपस में आदान-प्रदान कर सकें, अपने प्रयोग व गतिविधियां विकसित कर सकें, जिसके लिए सामग्री खरीदने हेतु पैसा भी उपलब्ध है।

तो, जैसा कि नगेंद्र कह रहे थे, तथ्य यह है कि कागज़ों पर ये ढांचे विद्यमान हैं। मगर उन्होंने यह भी बताया कि डाइट्स और एस.सी.ई.आर.टी. में दो गंभीर समस्याएं हैं। एक तो यह है कि इनमें स्टाफ की भारी कमी है और अधिकांश डाइट्स में इंफ्रास्ट्रक्चर की हालत घटिया है। इस समस्या को अब दुरुस्त किया जा रहा है। अब रख-रखाव अनुदान मिल रहा है; डाइट में विभिन्न स्रोतों से पैसा आ रहा है। अलबत्ता डाइट में अभी भी लोगों का अभाव है और इस बात का भी अभाव है कि ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिसके ज़रिए विभिन्न

श्रेणियों के लोग डाइट में प्रवेश कर सकें। डाइट में नियुक्त होने के लिए सरकारी सेवा में से चुनाव ही एकमात्र प्रक्रिया है। लिहाज़ा आपको सरकारी नौकरी में काफी समय बिताना होता है और चूंकि डाइट और स्कूलों का कैडर एक ही है इसलिए लोग स्कूलों में से आते हैं। अब यह बहुत अच्छी बात होती यदि आप प्राथमिक स्कूल से (डाइट में) आ पाते। मगर दुर्भाग्यवश, प्राथमिक स्कूल शिक्षक के लिए डाइट में पहुंचना बहुत मुश्किल है। आपके पास कुछ निर्धारित उपाधियां होनी चाहिए। इसलिए ज़्यादा संभावना यह है कि अपने कैरीयर में किसी खास मुकाम तक पहुंच चुके लोग ही इन संस्थाओं में पहुंचेंगे।

यह बात क्यों महत्वपूर्ण है? यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षकों के साथ जिस ढंग के सम्बंधों की बात रश्मि कर रही थीं, जिस ढंग के सम्बंधों की बात नगेंद्र कर रहे थे, वह डाइट में निर्मित करना मुश्किल है। अब प्रशिक्षण, फॉलो-अप, मासिक गोष्ठियों जैसी गतिविधियों के लिए ये सम्बंध महत्वपूर्ण हैं। तो पहली बात हम यह कहना चाहते हैं कि किसी भी समर्थन तंत्र में एक निष्ठा होनी चाहिए, एक विश्वास होना चाहिए और शिक्षकों को इन्सान मानने, ऐसा व्यक्ति मानने का जज़्बा होना चहिए जिसकी अपनी गरिमा है, जिसका अपना दिमाग है, जो अपनी बात कह सकता है और विचार-विमर्श कर सकता है, और जिसका मत आपसे अलग हो सकता है। और यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अधिकांश समर्थन तंत्र इन चीज़ों के साथ शुरू नहीं होते और इसीलिए ये प्रयास, जैसा कि रश्मि कह रही थीं, चाहे सैद्धांतिक रूप से डाइट या एस.सी.ई.आर.टी. में संभव हों, मगर उनके नतीजे उसी तरह के नहीं रहते। एस.सी.ई.आर.टी. भी शिक्षकों के साथ अंतर्क्रिया करता है - मगर इससे उसी तरह का सीखना नहीं होता, और उनकी प्रक्रियाओं से उसी तरह के शिक्षक नहीं उभरते। तो यह थी पहली बात।

दूसरी बात मैं रवैये के बारे में कहना चाहता हूं। जब कोई प्रशिक्षण कार्यक्रम किसी एन.जी.ओ. में, शिक्षकों के साथ गहराई से जुड़े एकलव्य या•विद्या भवन या किसी भी एन.जी.ओ. में आयोजित किया जाता है, तो शिक्षकों को कुछ बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। सर्व शिक्षा अभियान के प्रशिक्षण इस देश में पिछले चार वर्षों से चल रहे हैं, उनमें प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों के ठहरने का कोई इन्तज़ाम नहीं किया जाता जबकि प्रशिक्षण आवासीय होता है। शिक्षकों को वहीं रुकने के लिए विवश किया जाता है और यदि वे नहीं रुकते तो दण्डित करने की कोशिश की जाती है, मगर इस बात का कोई इन्तज़ाम नहीं किया जाता कि वे रुकेंगे कहां, बाथरूम, टॉयलेट्स नहीं होते, पीने का पानी नहीं होता, सोने के लिए ठीक-ठाक जगह तक नहीं होती। जब वे प्रशिक्षण स्थल पर पहुंचते हैं तो उनकी अगवानी करने को कोई नहीं होता, ऐसा कोई नहीं होता जो यह देखे कि शिक्षक उस जगह के लिए तैयारी करके आए हैं या नहीं, भोजन व अन्य सुविधाएं ऐसी होती हैं कि लगता है कि शिक्षक कोई व्यक्ति नहीं बल्कि मात्र एक संख्या है। जब तक व्यक्ति को संख्या समझने की इस समस्या को संबोधित नहीं किया जाता, आप जो भी समर्थन तंत्र बनाएंगे, वह निरर्थक साबित होगा।

तीसरी बात हम सीढ़ीनुमा व्यवस्था की करना चाहते हैं। नगेंद्र ने प्रशिक्षण की जो समस्याएं बताईं, उनमें से कई सीढ़ीनुमा व्यवस्था की उपज हैं। मैं इसके रूबरू हो.वि.शि.का. का प्रशिक्षण रखना चाहूंगा जो एक सीढ़ीनुमा प्रशिक्षण नहीं था। फर्क यह है किएक सीढ़ीनुमा प्रशिक्षण में एक समूह होता है जिसे सुपर-समूह कहते हैं और यही सुपर समूह मॉड्यूल तय करता है। मैं भी ऐसे सुपर मॉड्यूल बनाने में शरीक रहा हूं, यानी मैं भी इसमें बराबर का ज़िम्मेदार हूं। ये सुपर मॉड्यूल उन लोगों को समझाए जाते हैं जिन्हें प्रमुख स्रोत व्यक्ति (की रिसोर्स पर्सन्स) या उस्ताद प्रशिक्षक (मास्टर ट्रेनर्स) कहते हैं। तो यदि आपके पास एक अच्छा प्रशिक्षण

कार्यक्रम है, तो आप सीधे उस्ताद प्रशिक्षकों को प्रशिक्षित करेंगे। अन्य स्थितियों में आप इसमें एक पायदान और जोड़ेंगे, जिसमें प्रमुख स्रोत व्यक्ति होंगे। यानी मॉड्यूल को प्रमुख स्रोत व्यक्तियों के साथ किया जाएगा, जो इसे उस्ताद प्रशिक्षकों के साथ करेंगे, और फिर उस्ताद प्रशिक्षक जाकर शिक्षकों को प्रशिक्षण देंगे। इन पायदानों को अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है, इन्हें आप राज्य-स्तरीय स्रोत व्यक्ति कह सकते हैं, ज़िला स्तरीय स्रोत व्यक्ति कह सकते हैं और अंत में उस्ताद प्रशिक्षक कह सकते हैं। इस कार्य-संपादन की एक और खूबी होती है कि शिक्षक प्रशिक्षण तो 15 दिन का होता है जबकि प्रमुख स्रोत व्यक्तियों का प्रशिक्षण 3 दिन का होता है। नगेंद्र इसी को अपर्याप्त तैयारी कह रहे थे। जहां तक मॉड्यूल का सवाल है तो मॉड्यूल की डिज़ाइन ऐसी होती है कि उसमें प्रत्येक सत्र में जो कुछ होगा उसका हर कदम लिखा होता है और इरादा यह होता है कि इसे जस-का-तस पूरा किया जाएगा। शिक्षक या प्रशिक्षक के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती कि वे कार्यक्रम की विषयवस्तु को लेकर चर्चा कर सकें।

तो हो सकता है कि आप शुरुआत यह कहकर करें कि मुझे शिक्षकों की ज़रूरतें पता हैं और मैं जानता हूं कि शिक्षकों के साथ किन-किन क्षेत्रों में बात करने की ज़रूरत है मगर अंत में होता यह है कि आप शिक्षकों को बताने में लग जाते हैं और उनके साथ एक संवाद स्थापित नहीं करते। तो मैं तीसरी बात यह कहना चाहता हूं कि समर्थन तंत्र में प्रक्रिया संवाद की होनी चाहिए। इसका मतलब यह है कि न सिर्फ प्रशिक्षक प्रशिक्षुओं से सीखे, न सिर्फ प्रशिक्षु प्रशिक्षकों से सीखे बल्कि संवाद की एक प्रक्रिया के ज़रिए कार्यक्रम भी संशोधित हो। अब यदि आप ऐसे ढाचे नहीं सोच पाते, यदि आप ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम नहीं सोच पाते, तो आप जो भी प्रक्रिया स्थापित करेंगे, वह शिक्षकों में प्रशिक्षण के प्रति अलगाव पैदा करेंगी। हाल के वर्षों में शिक्षकों ने प्रशिक्षण के प्रति जो मत बना लिया है कि यह एक बोझ है, एक मजबूरी है उसके चलते वे प्रेरित होने की बजाय निरुत्साहित ज़्यादा हुए हैं। •

मैं कुछ ऐसी ज़रूरतों की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा जो आप पहले से ही सोच सकते हैं। शिक्षकों को क्या चाहिए, यह जानने के लिए आपको शिक्षकों का सर्वेक्षण करने की ज़रूरत नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि प्राथमिक स्कूल का शिक्षक पांच विषयों का जानकार है, तो यह अचरज की बात है। आप उम्मीद करते हैं कि शिक्षक छात्रों को अटकल लगाने दे, तर्क करने दे, मुक्त होकर सवाल पूछने दे, मगर फिर भी मैं कक्षा को संवाद के लिए, उदाहरण के लिए सामाजिक विज्ञान पर संवाद के लिए, खोलने में हिचकूंगा। मैं ज़्यादा नहीं जानता, मैं इतिहास के बारे में पर्याप्त नहीं जानता। इसलिए यह मुद्दा बहुत महत्वपूर्ण है कि शिक्षक की ज़रूरत क्या है क्योंकि वे भी हमारी तरह इन्सान हैं। हमारी ही तरह उनकी भी आकांक्षाएं और कामनाएं होती हैं। उन्होंने कोई उपाधि प्राप्त की है और बी.एड. किया है। तो वे भगवान नहीं हैं। यदि वे भगवान नहीं हैं, तो उनमें एक निश्चित स्तर की दक्षता है और एक स्तर की अक्षमता है। अब हमारी व्यवस्था किसी भी स्तर पर शिक्षक की अक्षमता को स्वीकार नहीं करती। मेरे लिए इसका मतलब यह निकलता है कि यदि मुझे कोई गलती करने की छूट नहीं है, तो मैं यही कर सकता हूं कि स्वयं को उतने तक सीमित रखूं जो पाठ्य पुस्तक में लिखा है और प्रशिक्षण में किया गया था ताकि गलती करने की गुंजाइश ही न रहे। तो यदि हम छात्रों को गलती करने की छूट देना चाहते हैं तो हमें शिक्षकों को भी गलती करने की छूट देना होगा। और हमें यह समझना होगा कि गणित, विज्ञान व सामाजिक विज्ञान में शिक्षकों की दक्षता को बढ़ाने की ज़रूरत है। इन सारे विषयों में शिक्षकों की दक्षता बढ़ाने की ज़रूरत है। और हमारे सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम इसके

लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। इनमें काफी मेहनत पढ़ाने की विधियों पर की जाती है बजाय विषयवस्तु पर। मेरे ख्याल में यह एक प्रमुख मुद्दा जिसे समझने की जरूरत है, और यह एक प्रमुख कारण है कि क्यों हो.वि.शि.का. जैसे कार्यक्रम सार्थक हैं क्योंकि इनमें ज्ञान के क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है, जो विषय आधारित हैं और इनमें कम से कम यह कोशिश की जाती है कि शिक्षक किसी विशेषज्ञ द्वारा बताई गई किसी पद्धति की बजाय अपनी पद्धति का उपयोग करने का आत्मविश्वास महसूस करें। तो मेरे ख्याल में यह एक महत्वपूर्ण बात है जिसे समझने की ज़रूरत है।

मैं जो दूसरी बात कहना चाहता हूं उसका सम्बंध बच्चे से है। बच्चा क्या है? बच्चा कैसे सीखता है, इन्सान कैसे सीखते हैं? जब तक आप इसके बारे में पढ़ते नहीं या आप कोई विशेषज्ञ - तथाकथित विशेषज्ञ - न हों तब तक आप यह नहीं समझ पाते कि बच्चे ढेर सारे ज्ञान के साथ आते हैं, और वे बहुत अलग-अलग ढंग से काफी सारा ज्ञान अर्जित करते हैं। शिक्षक मानते हैं कि बच्चों को तोतों की तरह पढ़ाया जा सकता है, उन्हें व्यवहारवादियों के सुझाए ढंग से प्रशिक्षित किया जा सकता है। यदि शिक्षक इन विश्वासों के साथ स्कूल आते हैं, तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। मगर हमारे पास ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है कि शिक्षकों को इस तरह की चर्चा में जोड़ सकें। हमारे पास उन्हें यह बताने की कोई प्रक्रिया नहीं है कि बच्चे कहीं अधिक जानते हैं और जो कुछ वे जानते हैं, वह सिर्फ बताए जाने पर या सिर्फ नकल या अनुकरण करके हासिल नहीं किया जा सकता था। तो यह एक और क्षेत्र है जिसके बारे में हमें बात करने की ज़रूरत है। इसे और विस्तार में करने का काम मैं रमा कांत पर छोड़ता हूं।

मेरे ख्याल में जिस तीसरे क्षेत्र पर हमें बात करना चाहिए, वह है कि हम बच्चों को शिक्षा क्यों देते हैं। इस मामले में भी हमारी अपनी-अपनी धारणाएं हैं। और मुझे लगता है कि हमें अपने शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में खुले रूप में चर्चा करनी चाहिए जैसे कि हम यहां कर रहे हैं। बदकिस्मती से, हमारी अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं - डाइट, एस.आई.ए.सी. और सी.टी.ई. - मानती हैं कि शिक्षा अनुसरण सिखाने के लिए होती है, बदलाव के लिए नहीं। जब विश्वास यह हो कि शिक्षा अनुसरण सिखाने के लिए है, तो इस बात की गुंजाइश बहुत कम होती है कि बच्चों को पूरी व्यवस्था पर, स्थापित ज्ञान पर सवाल उठाने की अनुमति दी जाए। और मेरे ख्याल में यह हमारे समर्थन तंत्रों की सबसे बड़ी सीमा है, क्योंकि वे शिक्षक को सवाल उठाने के लिए तैयार नहीं करते, उनमें शिक्षक को सवाल करने की ज़रूरत नहीं होती, और इसलिए यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि शिक्षक बच्चों को सवाल उठाने की अनुमति देंगे। तो यह तीसरी बात थी, समाज में शिक्षा की भूमिका का विश्लेषण करने व उस पर बातचीत करने की ज़रूरत है।

अंतिम बिंदु यह है कि हमें यह सोचने की ज़रूरत है कि शिक्षक को स्वयं ज़्यादा सीखने के आत्म विश्वास व क्षमता की ज़रूरत है। हमारे प्रशिक्षण कार्यक्रमों में इसके लिए कोई तैयारी नहीं होती। इसे कैसे कर सकते हैं? इसके कई तरीके हो सकते हैं और मुझे यकीन है कि यदि आप खुद शिक्षक अध्यापक की तरह सोचेंगे, तो हम सब कई तरीके खोज निकालेंगे। नगेंद्र और रश्मि के अनुभव और एकलव्य में मेरे अपने अनुभव से भी पता चलता है कि यदि हमारे पास ऐसी सामग्री है, जिसे शिक्षक समझ सकें, और यदि शिक्षक उन्हें समूहों में पढ़ें और फिर उन पर खुली चर्चा हो, तो वे उस चीज़ के थोड़े करीब आएंगे जो मैं चाहता हूं। वे कम से कम दो किताबें तो पढ़ेंगे, ऐसी सामग्री तलाश करेंगे और पुस्तकालय के प्रति थोड़े उदार होंगे। मगर हमारे

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम, सेवा पूर्व और या सेवा कालीन दोनों, में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जो शिक्षकों को पढ़ने को प्रेरित करे और अपने तर्क व मांगें सूत्रबद्ध करने को प्रोत्साहित करें ताकि वे ऐसी कोई चीज़ प्रस्तुत कर पाएं जिसका बचाव वे समकक्ष लोगों के बीच कर पाएं। मेरे ख्याल में हमारे शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की सबसे बड़ी खामी यह है कि हम शिक्षकों को खुद सीखने वाले बनने के लिए तैयार नहीं करते। इसलिए नगेंद्र जिस न्यूज़लेटर की बात कर रहे हैं, भरत पूरे ने एकलव्य के जिन प्रयासों - संदर्भ, चकमक और होशंगाबाद विज्ञान - की बात की, वे तब सार्थक होंगे जब ऐसे कार्यक्रम होंगे जो शिक्षक में ज़्यादा जानकारी, ज़्यादा अवधारणाओं, चीज़ों को करने के नए-नए तरीकों की चाह पैदा करें। तो ये चार बुनियादी क्षेत्र हैं। अब मैं रमाकांत पर छोड़ता हूं कि वे प्रशिक्षण कार्यक्रम की विषयवस्तु की चर्चा विस्तार में करें।

रमा कांत अग्निहोत्री

मुझे सिर्फ दो मिनट चाहिए एक बात कहने के लिए, जो मैं पिछले करीब डेढ़ दशक से कहने की असफल कोशिश करता रहा हूं। मैंने इस बात को कथनी व करनी में, मुद्रित रूप में, वीडियो वगैरह के रूप में साबित किया है। यह बात थोड़ी बासी-सी लग सकती है मगर मेरा आग्रह है कि जब तक आपके पास भावी समाज को लेकर एक दृष्टि नहीं है, जो प्रजातंत्र, न्याय, स्वतंत्रता, आज़ादी जैसे मूल्यों पर आधारित हो, तब तक मुझे नहीं लगता कि आप यह सोच सकते हैं कि आपको कैसा शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम चाहिए। मैं इसके विस्तार में जा सकता हूं, मगर मुझे यह बात निर्णायक महत्व की लगती है।

दूसरी बात, हार्डी ने जो कुछ कहा, उसके अलावा मैं मानता हूं कि संतरा या बिंदु पिण्ड विशेषाधिकार की स्थिति में हो या न हो, भाषा उस स्थिति में है। भाषा ज्ञान की रचना है, भाषा समाज की रचना है और कई अन्य कारणों से इसकी विशेष हैसियत है। मैं उम्मीद करता हूं कि हम सब इस बात पर सहमत हैं कि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे व शिक्षक तर्कशील इन्सान हों जो अपने आसपास की परिघटनाओं की तार्किक, तर्कसंगत ढंग से छानबीन कर सकें। और एक हद तक यह सही है कि समूची दुनिया में सारी कक्षाएं और सारे शिक्षक प्रशिक्षण समूह परिभाषा से ही बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक होते हैं। मेरे ख्याल में कक्षाओं के बारे में तो काफी आंकड़े हैं कि भाषा विज्ञान के मामले में सारी जानकारी आपके सामने बैठे बच्चों के दिमाग में होती है; यह बात सामाजिक विज्ञान या प्राकृतिक विज्ञान या किसी तरह के विज्ञान के बारे में उतनी लागू नहीं होती मगर सौभाग्य से भाषा विज्ञान पर लागू होती है। इस जानकारी को विशेष हैसियत देने की बजाय, इस जानकारी का उपयोग करने की बजाय, हम लगातार इसका अपमान करते हैं, हम इसका कोई अर्थ ही नहीं समझ पाते। मैंने अन्यत्र यह दर्शाया है कि यह संभव है कि शिक्षक व्यवस्थित रूप से इस जानकारी को उभार पाए और विश्लेषण वाले हिस्से को छोड़ दे। इस मामले में बात सही उत्तर तक पहुंचने की नहीं है, बात बच्चों के छोटे-छोटे समूहों को भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की एक प्रक्रिया में शामिल करने की है।

चर्चा

जयश्री सिक्का : मेरा हार्डी से एक सवाल है। अपने पर्चे में आपने दो परस्पर विरोधी बातें कही हैं। एक ओर तो आप कह रहे थे कि शिक्षक को एक सीखनेवाला और एक खोजी होना चाहिए और दूसरी तरफ आप कह

रहे हैं कि उसे एक संख्या के रूप में देखा जाता है। मेरा सवाल है कि आप इस समस्या से कैसे निपटेंगे, क्या हमारे पास कोई समाधान है?

अनु : मैं एन.आई.ए.एस., बैंगलोर से अनु। मेरा सवाल रश्मि के लिए है। जब एकलव्य ने हो.वि.शि.का. को आगे बढ़ाया, चूंकि हम जानते हैं कि स्कूली शिक्षा में भाषा विकास और गणित भी बहुत महत्वपूर्ण है, तो सामाजिक विज्ञान को महत्व क्यों दिया गया था? और यदि हम कक्षा की प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप कर रहे हैं, तो क्या हम शेष विषयों को छोड़कर सिर्फ एक-दो विषयों में हस्तक्षेप कर सकते हैं?

रामनिवास : मैं छत्तीसगढ़ से हूं। सरकार के मुताबिक मैं विज्ञान शिक्षक हूं, मगर मेरे अपने मत से मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूं। मुझे यह बात अच्छी लगी कि आपने बताया कि बी.आर.सी., डी.पी.सी., सी.ई.सी. वगैरह सब हैं तो सही, और आपने यह टिप्पणी की कि इनकी निगरानी की कोई व्यवस्था नहीं है। बदकिस्मती से, मैं इस व्यवस्था का एक हिस्सा रहा हूं। मैं छः वर्षों तक डी.पी.सी. था। मैं सर्व शिक्षा अभियान का क्रियान्वयन ज़िला स्तर पर करता था। यह सही है कि उसमें कोई व्यवस्था नहीं है और हम हो.वि.शि.का. को बहुत सम्मान से देखते हैं और अपने राज्य में क्रियान्वित कर रहे हैं। हो.वि.शि.का. को लेकर काफी चर्चा हुई है; मेरी एक जिज्ञासा है। कार्यक्रम 30 वर्षों तक बहुत अच्छे से चला, हम इसका समर्थन करते हैं, हम इसके सिद्धांतों का समर्थन करते हैं। मगर क्या हो.वि.शि.का. में शिक्षकों व छात्रों के विज्ञान शिक्षण सम्बंधी रवैये को लेकर कोई अध्ययन हुआ है, और इसके निष्कर्ष क्या रहे?

दूसरी बात, इतने अच्छे कार्यक्रम को अचानक बंद क्यों कर दिया गया? जब 30 सालों तक यह एक अच्छा कार्यक्रम रहा, तो लोगों ने इसे स्वीकार क्यों नहीं किया और इसे बंद क्यों कर दिया?

नरसिंहन : मैं एन.आई.ए.एस., बैंगलोर से हूं। मैं सामाजिक विज्ञान के प्रस्तुतीकरण की सचमुच तारीफ करूंगा। जिस ढंग से सामाजिक विज्ञान की नए सिरे से संकल्पना की गई, वह बहुत शिक्षाप्रद था। मगर मुझे यह खटका कि फोकस इतिहास पर था और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहा गया। इतिहास एक मायने में अनोखा है और यह सामान्य सामाजिक विज्ञान जैसा नहीं है क्योंकि इसे कहने के तरीके वगैरह अलग हैं। यदि आप समूचे सामाजिक विज्ञान को लेना चाहते हैं, तो आपको अन्य सामाजिक विज्ञानों से उदाहरण लेने होंगे। और एक बात मैं यह समझना चाहता हूं कि आप बच्चों को सामान्यीकरण की कला कैसे सिखाते हैं। हम लोग नियमों के बारे में बात करते रहे हैं, जबकि हम यह जानते हैं कि नियमों के लिए सामान्यीकरण ज़रूरी है मगर सामान्यीकरण का मतलब हमेशा नियम नहीं होता।

अनिल पालीवाल : मैं विद्या भवन में आई.सी.एस. का शिक्षक हूं। डॉ. नागपाल, डॉ. दीवान से शिक्षक प्रशिक्षण को लेकर इतनी कठोर आलोचना व समालोचना सुनना मेरे लिए अद्‌भुत अनुभव था। इसके अलावा डॉ. रश्मि पालीवाल ने भी कुछ बातों पर प्रकाश डाला। जब मैं शिक्षक प्रशिक्षण के बारे में सोचता हूं, तो पिछले दो दशकों से मैं दो प्रश्नों से जूझता रहा हूं और मुझे इस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उनके बारे में कुछ विचार मिले हैं। मैं चाहूंगा कि यहां बैठे लोग इन दो सवालों के बारे में सोचें क्योंकि मुझे कभी इनके संतोषजनक जवाब नहीं मिले हैं - हालांकि यह भी ज़रूरी नहीं है कि इनके कोई अंतिम उत्तर हों। शिक्षक प्रशिक्षण की बात करते समय दो प्रश्न उठते हैं:

1) क्या शिक्षक प्रशिक्षण में कोई व्यावहारिक विषयवस्तु है? जब हम जीवन शैली और कार्य शैली दोनों की आलोचना करते हैं, तो हमें इस स्थिति में होना चाहिए कि शिक्षक प्रशिक्षण की ऐसी विषय वस्तु और पद्धति स्पष्ट कर सकें जो ऐसी स्थिति में उपयुक्त हो।

2) शिक्षक प्रशिक्षण स्कूली शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन लाने में असफल क्यों रहा है?

के. पी. मोहनन : हार्डी ने शिक्षक प्रशिक्षण में पद्धति की भूमिका और विषयवस्तु की भूमिका के बीच महत्वपूर्ण भेद किया था, और शायद उन्होंने विषय वस्तु में क्षमताओं को भी शामिल किया होगा। हम अपेक्षा करते हैं कि शिक्षक छात्रों को आलोचनात्मक ढंग से सोचना, जांच-पड़ताल करना सिखाएं और शिक्षक ऐसा तब तक नहीं कर सकते जब तक कि शिक्षक स्वयं आलोचनात्मक सोचने वाले और खोजी न हों। मैं किसी को नृत्य तब तक नहीं सिखा सकता जब तक कि मुझे नृत्य का थोड़ा अनुभव न हो। तो शिक्षक प्रशिक्षण का पहला हिस्सा तो यह होना चाहिए कि ये क्षमताएं हासिल करने में शिक्षकों की मदद की जाए। यह काफी बड़ा काम होगा। मुझे पता नहीं कि क्या वर्तमान शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में इसका प्रावधान है या नहीं।

रश्मि के लिए एक सवाल, आपने अन्य व्यक्तियों व समुदायों के अनुभवों की एक कल्पनाशील, हमदर्दी पूर्ण समझ की वकालत की। हालांकि मुझे एक सामान्य अर्थ में महत्वपूर्ण लगता है, मगर मुझे इसमें संदेह है कि क्या यह विज्ञान शिक्षा का हिस्सा है क्योंकि कई ऐसे मामले हैं जहां आप इस तरह का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते, हमदर्दी पूर्ण अनुभव वैज्ञानिक जांच-पड़ताल का अंग नहीं है जबकि प्रत्यक्ष अनुभव इसका अंग है। मुझे इस बात का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है कि जेल में एक मुज़रिम की तरह रहना कैसा लगता है, मुझे इस बात का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता कि एक बच्चे को जन्म देना कैसा लगता है, और मुझे इस बात का कोई अनुभव नहीं हो सकता कि उन्नीसवीं सदी में युनाइटेड स्टेट्स में एक गुलाम होना कैसा था। और कला, जैसे साहित्य, फिल्म वगैरह का काम इस तरह के हमदर्दी पूर्ण अनुभव देने का है, यह विज्ञान शिक्षण की भूमिका नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि यह महत्वपूर्ण नहीं है, मैं यह कह रहा हूं कि इस हमदर्दी को पैदा करने के लिए अवलोकन-आधारित तरीकों की बजाय अन्य तरीके हैं।

सत्यजीत रथ : रमा कांत के लिए एक सवाल, चूंकि उन्होंने कहा कि जिस ढंग का समाज हम बनाने की कोशिश कर रहे हैं उसकी दृष्टि शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य का अभिन्न अंग है। ऐसी दृष्टियां अनिवार्य रूप से राजनैतिक होती हैं और ये परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं। तो रमा कांत एक गैर-राजनैतिक मगर वैचारिक तरीके से शिक्षक प्रशिक्षण की रचना व क्रियांवयन को शासन के एक कार्य के रूप में किस नज़र से देखते हैं?

राकेश सक्सेना : मैं विद्या भवन से हूं। मेरा सवाल रश्मि से है। आपने सीखने-सिखाने की सामग्री के विकास के काम को शिक्षक सशक्तीकरण के काम के साथ-साथ करने की बात कही। आपने सीखने-सिखाने की सामग्री के विकास का जो कार्य किया वह अधिकांशतः शिक्षक सशक्तीकरण के काम शिक्षक समर्थन कार्यक्रम के साथ ही चला भी। मैंने यही सुना, मैं गलत हो सकता हूं। और फिर आपने सामाजिक विज्ञान और प्रमाण साझा करने, शिक्षकों के विकास के साथ शिक्षकों के सशक्तीकरण और सीखने-सिखाने की सामग्री के विकास की बात कही। मगर कार्यक्रम के अंतिम हितग्राही, अंतिम ग्राही तो छात्र हैं। वहां आप थोड़ी कंजूस रहीं, आपने कहा कि हम छात्रों के साथ प्रमाण साझा करने तक नहीं गए जैसा कि हमने शिक्षकों के साथ किया। ऐसा करने के कुछ रणनीतिक कारण ज़रूर रहे होंगे; हम जानना चाहेंगे कि वे क्या थे और जब आप प्रमाणों को साझा करके सिद्धांतों के विकास और सामाजिक विज्ञान या इतिहास शिक्षण का मॉडल विकसित करने के पूरे पैराडाइम की बात कर रही थीं, तब किस तरह के प्रमाणों की बात कर रही थीं।

जयश्री रामदास : सरकारी शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम जो सर्व शिक्षा अभियान वगैरह में होता है, जिसकी हालत बहुत खस्ता है, और हो.वि.शि.का., जो एक अनूठा कार्यक्रम है और पिछले 30 सालों से लगातार वैकल्पिक शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाता रहा है, इन दो के बीच अंतर बताए गए। संभवतः कोई आंकड़े एकत्रित नहीं किए गए हैं, मैं समझ सकती हूं, मगर जो लोग इस कार्यक्रम में इतने वर्षों से काम कर रहे हैं उनकी इसकी प्रभाविता को लेकर कुछ तो धारणा होगी। क्या इसने स्कूलों में शिक्षण पर असर डाला है? क्या इसने स्कूलों में पढ़ाने वाले शिक्षकों में कोई फर्क पैदा किया है? और दूसरी बात कि क्या एकलव्य ने इस तरह के शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम को चलाते हुए कुछ सबक अर्जित किए हैं?

राजेंद्र सिंह : दो संक्षिप्त टिप्पणियां और शायद हार्डी के वक्तव्य पर एक सवाल। पहले एक व्यक्तिगत अनुभव का प्रमाण। जब मैं पहली बार 1974 में शैक्षिक अवकाश (सेबेटिकल) पर भारत आया था, तो मैं चाहता था कि मेरे बच्चे मेरठ के किसी अप्रतिष्ठित स्कूल में जाएं। और प्रिंसिपल ने कहा कि वे मेरे बच्चों को दाखिला नहीं देंगे क्योंकि उन्हें पता है कि उत्तरी अमरीका के बच्चे बहुत ज़्यादा सवाल पूछते हैं। मुझे लगता है कि यह उस बात की प्रत्यक्ष पुष्टि करता है जो आप कहने की कोशिश कर रहे थे। प्रश्न यह है कि मेरे ख्याल में शिक्षक प्रशिक्षण में विषयवस्तु और पद्धति के बारे में जो कुछ कह रहे थे, उसे उस पूरी चर्चा पर लागू किया जा सकता है जो यहां हम विज्ञान और उसकी पद्धति के बारे में कर रहे हैं। देखने की बात यह है कि पद्धति के चक्कर में प्राकृतिक विज्ञान समेत किसी भी क्षेत्र में विषयवस्तु कमज़ोर होती है। हमने यह दर्शाने की कोशिश की है कि ऐसी कोई एकमेव विधि नहीं है, जिसका उपयोग सर्वत्र किया जा सके।

कमलेश : हार्डी ने व्यापक मुद्दे उठाए हैं। मगर मुझे लगता है कि आजकल ऐसे मुद्दों के बारे में सोचने का समय न तो सरकार के पास है न संस्थाओं के पास। हर चीज़ प्रोजेक्ट का हिस्सा होती है, जिसे सीमित समय में पूरा किया जाना है, चाहे शिक्षा में सुधार की बात हो या पानी की गुणवत्ता में। तो हार्डी द्वारा उठाए मुद्दों को कैसे समझें और जोड़ें? मुझे लगता है जहां मैं काम करता हूं वहां तो यह बहुत मुश्किल होगा। जिस संस्था में मैं जाता हूं, वहां सब कुछ पहले से ही तय है। हर साल दो प्रशिक्षण करना है, तो किसी न किसी तरह करना ही होते हैं। यह पूछने पर कि क्या हासिल हुआ, मनगढ़ंत आंकड़े बताए जाते हैं। सोचने, मनन करने या विकल्प सोचने का समय ही नहीं है। यह सब पांच साल से चल रहा है और एक स्कूल में भी कोई सकारात्मक परिणाम नहीं है। कई सारे प्रशिक्षण किए जा चुके हैं, पैसा लगाया जा चुका है, मगर नतीजा कुछ नहीं। हर कोई सीखने-सिखाने की सामग्री बनाने में भिड़ा है, गोया इसकी कोई प्रदर्शनी होने वाली है। इस सामग्री में खोजबीन आधारित सीखने के बारे में कुछ नहीं है। मैं बहुत चिंतित रहता हूं कि इन चीज़ों में सुधार कैसे किया जा सकता है।

उपेंद्र रेड्डी : मेरी बात प्राथमिक स्कूल के स्तर पर शिक्षक विशेषीकरण को लेकर है। वर्तमान प्रथा यह है कि कक्षा 5 तक हर शिक्षक से सारे विषय पढ़ाने की अपेक्षा की जाती है। एक सुझाव यह आया है कि एक शिक्षक को एक विषय, जैसे भाषा, दिया जाए और वह कक्षा 3, 4, 5 में इसी का अभ्यास करे। जब हम विषयों के एकीकरण की बात करते हैं, तो शिक्षक शुरुआती वर्षों में भाषा को वरीयता देता है ताकि वह अपना समय समायोजित कर सके और विषयों का अभ्यास कर सके। यदि आप शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों को देखें, तो भी ऐसा ही है। और इस मामले में विशिष्ट अनुशंसा क्या दी जानी चाहिए, विषयवार अभ्यास या सभी विषयों

का समग्र अभ्यास ताकि विषयों की विविध प्रकृतियों को एकाकार करके उन्हें एकीकृत भाव से लिया जा सके।

एक और बात प्रशिक्षण प्रदान करने को लेकर है। हम शिक्षकों को पद्धति में प्रशिक्षित कर रहे हैं। वक्ताओं ने बताया कि विषयवस्तु के लिहाज़ से खास अभ्यास नहीं हो पाता, खास तौर से प्रारंभिक स्तर पर। शिक्षकों के प्रति पूरे सम्मान के साथ, मैं कहूंगा कि यदि आप विषयवस्तु को प्रशिक्षण के एक हिस्से के रूप में लेते हैं, तो शिक्षकों की विषयवस्तु में कुछ पूर्व-तैयारी होनी चाहिए। आंध्र प्रदेश में हमने शिक्षकों से पूछा कि उन्हें किन विषयों में दिक्कत होती है, तो एक शिक्षक ने एक विषय दिया तो दूसरे ने दूसरा - कुल मिलाकर पूरी पाठ्य पुस्तक ही प्रशिक्षण का हिस्सा बन गई। मगर हम यह कैसे सुनिश्चित करें कि शिक्षक पढ़ें और प्रशिक्षण में कुछ तैयारी के साथ आएं? जब तक वह खुद की तैयारी नहीं करता, आप चाहे जैसा प्रशिक्षण दें, चाहे जितने दिन दे दें, प्रशिक्षण कभी पर्याप्त न होगा।

अज्ञात व्यक्ति : सबसे पहले तो मैं हार्डी और नगेंद्र दोनों को देश में मौजूद शिक्षक प्रशिक्षण तंत्र की खामियों को रेखांकित करने के लिए बधाई दूंगा। मुझे खुशी है कि वे दोनों सहमत हैं कि हमने विश्वविद्यालयीन शिक्षकों के लिए स्टाफ ट्रेनिंग कॉलेज से लेकर गांव के स्तर पर प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों के लिए क्लस्टर स्रोत केंद्र तक एक व्यापक शिक्षक समर्थन तंत्र खड़ा किया है। समस्या इतनी ही है कि ये ठीक से काम नहीं कर रहे हैं, जैसा कि उन्हें करना चाहिए। अब समाधान क्या है? क्या हम इस पूरी व्यवस्था को खत्म कर दें और कोई समांतर व्यवस्था खड़ी करें, या मौजूदा इंफ्रास्ट्रक्चर को सुदृढ़ करने का प्रयास करें, जिसे हमने इतने पैसे खर्च करके खड़ा किया है? एकलव्य और विद्या भवन के स्रोत केंद्र जैसी संस्थाएं जो शिक्षक समर्थन के क्षेत्र में नवाचार कर रही हैं, मेरा विचार है कि इन्हें इन प्रशिक्षण संस्थानों के साथ अंतर्क्रिया करनी चाहिए और उन्हें बेहतर सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की सूझबूझ विकसित करने में मदद् करनी चाहिए। बदकिस्मती से फिलहाल ऐसा नहीं हो रहा है। हमारे अपने विद्या भवन में भी आई.ए.एस.सी. और शिक्षा स्रोत केंद्र के बीच ज़्यादा परस्पर क्रिया नहीं है, दोनों स्वतंत्र रूप से काम कर रहे हैं। मुझे लगता है कि इन दो संस्थाओं के बीच ज़्यादा नज़दीकी अंतर्क्रिया होनी चाहिए।

दूसरी बात मैं हार्डी की बात पर एक टिप्पणी करना चाहूंगा। हार्डी ने ज़िक्र किया कि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं महसूस करती हैं कि शिक्षा का मकसद अनुसरण करना है। मैं इससे सहमत नहीं हूं। मैंने अपने शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में दर्शन का पहला सबक यह सीखा था कि शिक्षा का मकसद संस्कृति को आगे बढ़ाना व उसे जारी रखना है, कुछ तत्व अनुसरण का और कुछ आगे बढ़ाने का। बदलाव और निरंतरता दोनों ही शिक्षा के मकसद हैं। हम हर वर्तमान चीज़ को नष्ट करके हर चीज़ नई नहीं बनाना चाहते। शिक्षक प्रशिक्षक के रूप में हम अपने मन में बहुत स्पष्ट हैं कि शिक्षा का मकसद निरंतरता व बदलाव दोनों हैं।

रश्मि के प्रस्तुतीकरण के बारे में एक टिप्पणी - कभी-कभी हम विज्ञान के दायरे को बहुत खींच देते हैं। हम विज्ञान की विधि को सारे विषयों पर क्यों थोपना चाहते हैं? मैं वैज्ञानिकों से सहमत नहीं हूं कि सारे विषयों को विज्ञान की विधि का पालन करना चाहिए। अव्वल तो मुझे बहुत संदेह है कि विज्ञान की एक विधि होती भी है, खुद वैज्ञानिक भी खोजबीन की वैकल्पिक विधियों का उपयोग करते हैं। वे ज़्यादातर तो इतिहास के बारे में बता रही थीं। मुझे नहीं लगता कि इतिहास में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की वैसी सख्ती होती है जैसी

भौतिक विज्ञानों में पाई जाती है। हम देखते हैं कि जे.एन.यू. के इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास और वी.एच.पी. के इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास एकदम अलग-अलग हैं। घटनाएं वही हैं, मगर व्याख्या पूरी तरह व्यक्तिनिष्ठ है। तो हम व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या से बच नहीं सकते।

भरत पूरे : मेरी जानकारी में शिक्षकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन को देखने के लिए ऐसा कोई औपचारिक अध्ययन नहीं हुआ है क्योंकि यह गुणात्मक मसला है। और जो लोग इन शिक्षकों के साथ जुड़े रहे हैं, वे दृष्टिकोण में परिवर्तन को महसूस कर सकते हैं। जब हम शिक्षक प्रशिक्षण के लिए जाते हैं और उनके साथ काम करते हैं, तो हम निश्चित रूप से उनके दृष्टिकोण में कई अंतर देख सकते हैं। मैं आपको यकीन दिला सकता हूं कि हम स्रोत शिक्षकों के रवैयों में परिवर्तन आया है। तो हमें लगता है कि उन शिक्षकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया होगा जो प्रशिक्षण के लिए आते हैं।

यदि यह कार्यक्रम बहुत अच्छा था तो इसे बंद क्यों किया गया? मुझे पता नहीं कि यह बहुत बढ़िया था नहीं, मगर कार्यक्रम को बड़ी संख्या में शिक्षकों ने अपनाया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि कार्यक्रम शुरू करने की अनुमति दी गई थी। मेरे ख्याल में तो यह खुद हमारे लिए भी हैरत की बात थी क्योंकि जब कार्यक्रम शुरू हुआ था तब वे पूछा करते थे, "सरकार ने आपको ऐसा कार्यक्रम इतने बड़े पैमाने पर चालू करने की अनुमति कैसे दे दी?" कहते हैं कि उस समय यदि डॉ. बी.डी. शर्मा डी.पी.आई. न होते तो कार्यक्रम की अनुमति न मिलती। तो कई बार निर्णय व्यक्ति आश्रित भी होते हैं। फिर एक और अफसर थे जो मुख्य सचिव बनकर रिटायर हुए थे। वे शिक्षा सचिव भी रहे। ऐसे लोगों और नवाचार कार्यक्रमों को लेकर उनके दृष्टिकोण की वजह से कुछ कार्यक्रमों को कुछ हद तक चलने की अनुमति मिली। और कुछ राजनैतिक व अन्य कारणों से - मैं कार्यक्रम बंद किए जाने का कोई एक कारण नहीं बता सकता। मगर चूंकि अब यह बंद चुका है, इसलिए सही-सही कारण जानना बहुत कठिन है - हो सकता है राजनैतिक इच्छा रही हो, या अफसरों के कारण हो सकता है जो राजनैतिक लोगों से जुड़े हुए थे जिन्होंने निर्णय लिया।

तीसरा प्रश्न था कि शिक्षकों पर असर के संदर्भ में एकलव्य ने क्या सबक सीखे हैं। मैं आसानी से अंदाज़ लगा सकता हूं कि शिक्षक लाभान्वित हुए - शिक्षक, छात्र और पालक। हम समाज में प्रवेश कर पाए थे अपने प्रकाशनों की मदद से, कई अन्य कार्यक्रमों की मदद से, पुस्तक मेले और कार्यक्रम से जुड़ी कई अन्य गतिविधियां थीं। तो हमें लगता है कि समाज पर भी ज़रूर कुछ असर हुआ होगा।

एकलव्य ने क्या सीखा? सवाल के इस पहलू पर मैं कुछ नहीं कह पाऊंगा।

रश्मि पालीवाल : मुझे जितना समय दिया गया था, उसी की वजह से मैंने कई बातों का ज़िक्र नहीं किया था। हां, एकलव्य ने प्राथमिक स्कूलों में भाषा व गणित शिक्षण का कार्यक्रम भी लगभग सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम के साथ ही शुरू किया था। मैंने सिर्फ इसका ज़िक्र नहीं किया। एकलव्य के गठन के समय ही यह समझ थी कि मात्र एक विषय के शिक्षण में हस्तक्षेप करना पर्याप्त नहीं है और हमें सारे स्कूली विषयों में शिक्षण व पाठ्यक्रम की संकल्पना में नवाचारी विधियों का विकास करना चाहिए। यह एकलव्य का मकसद था। मगर हमने काम को पूरा नहीं किया। और हमें इस काम को एक अलग हैसियत से उठाना होगा, यह आज एक नई चुनौती है। अलबत्ता हम निश्चित रूप से मानते हैं कि हमें अलग-अलग कार्यक्रम विकसित नहीं करना है जिनका आपस में कोई लेना-देना न हो।

मैंने इतिहास पर फोकस क्यों किया? मैंने खास तौर से ऐसा इसलिए किया क्योंकि इस विषय की प्रकृति थोड़ी जटिल है और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास पढ़ाने के लिए पद्धति विकसित करना एक ज़्यादा बड़ी चुनौती

है। एकलव्य की पाठ्य पुस्तकों में भूगोल, नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र भी शामिल हैं। वह बहस का एक व्यापक क्षेत्र है जो आज का विषय नहीं था। मगर आप पुस्तकों को देखेंगे तो उनमें वे सारे विषय हैं।

मैं सामान्यीकरण की कला को लेकर और हम इसके लिए क्या करते हैं तथा बच्चों के साथ प्रमाण साझा करने व इसे शिक्षकों तक सीमित रखने के सम्बंध में आपके सवाल पर आती हूं। मुझे लगा कि मैंने थोड़ा तो यह बात समझाई थी। यदि आप किताबों को देख सकें, तो देखेंगे कि लगभग हर अध्याय में प्रमाण बच्चों के साथ साझा किए गए हैं, मगर ऐसा करने के लिए कुछ स्थान ज़्यादा उपयुक्त लगे, जैसे जब हम वैदिक समाज की बात करते हैं, तो इस बात की जानकारी है कि वैदिक समाज कैसा था और इसे बच्चों के लिए एक कथानक के माध्यम से, कहानियों के ज़रिए पुनर्निर्मित किया गया है। मैं बच्चों के साथ वे सारे प्रमाण तो साझा नहीं कर सकती जिनके आधार पर यह कथानक बनाया गया है। कक्षा 6 व 7 में मैं इसे साझा नहीं कर सकती क्योंकि प्रमाण बहुत टुकड़ों में हैं और पेचीदा हैं, जिनसे बच्चे कोई अर्थ निकालकर पूर्णता में एक समझ नहीं बना पाएंगे। मगर मैं शिक्षकों के साथ शिक्षक कार्यशालाओं में इसे साझा करती हूं। और मैं इसका दस्तावेज़ीकरण करती हूं और सुधार करती जाती हूं कि कैसे हमने प्रमाणों को शिक्षकों के साथ साझा किया। शिक्षकों को पता होना चाहिए और उन्हें अधिक से अधिक प्रमाण प्राप्त करने की छूट होनी चाहिए ताकि वे आश्वस्त हो सकें कि बच्चों के लिए जो पुनर्निर्मित कथानक प्रस्तुत किया गया है वह मानने योग्य है और जिसकी चर्चा वे आत्मविश्वास के साथ कर सकेंगे। मगर बच्चों के लिए हमने विभिन्न वैदिक श्लोकों के उद्धरण और कुछ पुरातात्विक प्रमाण दिए हैं ताकि वे व्याख्या का थोड़ा अभ्यास कर सकें। मगर यह उन्हें पूरे समाज की एक बानगी की एक झलक ही देता है। पूरे सामाजिक चित्र का निर्माण मात्र प्रमाणों के आधार पर नहीं किया जा सकता। तो एक तरह का पृथक्करण है। मैं यह बात पहले कहने की कोशिश कर रही थी कि अध्यापकों के रूप में हमें पृथक्करण करना होता है। विभिन्न लोग परिपक्वता के अलग-अलग स्तरों पर होते हैं, हरेक के लिए हमें एक उपयुक्त स्तर की रचना करनी होती है जहां हम चीज़ें साझा करेंगे, और अलग-अलग विधियों की उपयुक्त भूमिका देखनी होती है। एक ही चीज़ सब लोगों के साथ नहीं की जा सकती।

साहित्य और हमदर्दी-पूर्ण अनुभव व समझ और विज्ञान का मकसद न होने के बारे में एक संक्षिप्त टिप्पणी करना चाहूंगी। सबसे पहले तो हम मानते हैं कि सामाजिक विज्ञान में समझ का एक महत्वपूर्ण स्रोत साहित्य है। वास्तव में यह तो स्वयं ही स्रोत सामग्री है। मुझे यह समझ में नहीं आया कि जब आप कह रहे थे कि हमदर्दी पूर्ण अनुभव की रचना करना विज्ञान का मकसद नहीं है या सामाजिक विज्ञान की भूमिका नहीं है, तो आप कहना क्या चाहते थे क्योंकि वैज्ञानिक विधि से हम जो कुछ समझ पाए हैं वह यह है कि अनुभव की कोई भी पुनर्रचना या उसका विश्लेषण प्रमाणों पर आधारित, और जांच-पड़ताल के लिए खुला तथा निष्कर्ष में खुलापन होना चाहिए। यदि मैं साहित्य को इस प्रकाश में देखती हूं, तो मेरे ख्याल में मैं उसे वैज्ञानिक ढंग से देख रही हूं।

हृदय कांत दीवान : एक सवाल मेरे द्वारा आई.ए.एस.सी. और सी.टी.ई. के बारे में किए गए व्यापक सामान्यीकरण को लेकर था। मैं मोटे तौर पर बात कर रहा था और मैं मानता हूं कि इन संस्थाओं या इनमें शामिल व्यक्तियों ने समय-समय पर शिक्षक प्रशिक्षण पर अलग ढंग का काम किया है। मैं तंत्र की बात कर रहा था और मैं अब भी मानता हूं कि इस तंत्र पर बदलाव की बजाय अनुसरण को आगे बढ़ाने का ही बोझ

ज़्यादा है। और यह बात सरकार द्वारा आयोजित सेवाकालीन प्रशिक्षणों के लिए ज़्यादा और कॉलेजों व आई.ए.एस.सी. के बारे में थोड़ी कम सही है, क्योंकि इनमें अभी थोड़ा अनुसंधान व सोच-विचार होता है। और कम से कम छात्रों के साथ काम करने वाली शिक्षक स्वयं यह तय करती है कि वह क्या पढ़ाएगी। ऐसा नहीं होता है कि यह उन्हें कोई और दे दे।

उपेंद्र और प्रोफेसर सिंह ने कई व्यावहारिक सवाल उठाए हैं और मुझे उनके सवालों से हमदर्दी है। मेरे पास इनके कोई आसान जवाब नहीं हैं। मैं जो बात कहने की कोशिश कर रहा था वह यह है कि जब आप जानते भी हैं कि क्या करना है, तब भी बहुत मुश्किल होता है क्योंकि जिन बड़े तंत्रों की हम बात कर रहे हैं, उन्हें व्यापक स्तर पर ये बातें साझा करनी होती हैं। इतना काफी नहीं होता कि राज्य स्तर के स्रोत दल में शामिल लोग या मॉड्यूल बनाने वाले अकादमिक लोग इन बातों को समझ जाएं। परियोजना निदेशक या शिक्षा निदेशक के साथ एक वार्तालाप और उस वार्तालाप के दौरान उनका संदेश प्रशिक्षण के पूरे संदर्भ को बदल सकता है। तो शुरुआत यह कहकर कर सकते हैं कि आप शिक्षकों के प्रति संवेदनशील हैं, आप उनकी ज़रूरतों का ख्याल कर रहे हैं, आप ध्यान रखेंगे कि उनका सम्मान हो, उनका ध्यान रखा जाए, उनके टी.ए. बिल्स तत्काल पारित हो जाएं। यदि आप ये सारी व्यवस्थाएं दुरुस्त कर दें, और फिर भी यदि एक वरिष्ठ अधिकारी आकर ऊपर-से-नीचे की शैली में बात करता है तो पूरा माहौल बदल सकता है। तो यह बहुत मुश्किल है, और इसके लिए उन लोगों को सतत प्रयास करने होंगे जो इन बातों में विश्वास करते हैं।

एकलव्य ने क्या सीखा - मेरे ख्याल में रश्मि या भरत को इस पर कुछ कहना चाहिए था, मगर चूंकि मैं आज भी एकलव्य से जुड़ा हूं, तो मुझे लगता है कि मैं इस पर कुछ कह सकता हूं। एकलव्य के लिए, और एकलव्य के समान सोचने वालों के लिए, हो.वि.शि.का. का मतलब यह नहीं था कि कार्यक्रम को 30 या 35 सालों तक चलाते रहें, मुद्दा यह समझना था कि व्यवस्था कैसे काम करती है, व्यवस्था को बदलने के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत है, तंत्र को बदलने के लिए क्या किया जा सकता है और इस दिशा में हम कहां तक जा सकते हैं। मुझे लगता है कि हम काफी आगे तक गए हैं। हमने अपनी सीमाएं पहचानी हैं; हमने तंत्र की सीमाएं भी पहचानी हैं। यह सही है कि हम अब भी नहीं जानते कि क्या करना चाहिए। मगर हम यह जानते हैं कि क्या नहीं करना चाहिए और इस मायने में, हम जहां भी काम करें, जिस भी समूह के साथ काम करें, हम उन कारणों को जानते हैं जिनकी वजह से हम असफल रहे। हम बाहरी हस्तक्षेपकर्ता - यानी वह एजेंसी जो विशाल तंत्र से अलग है - की सीमाओं से भी वाकिफ हैं। तो नवाचार के काम को आप दो ढंग से देख सकते हैं। एक है ऐसे कार्यक्रमों का विकास करना जो कक्षा में अलग ढंग के कामकाज के लिए उपयुक्त हों, और दूसरा है कि जो कार्यक्रम विकसित हुआ है उसे व्यापक तंत्र में अंगीकार किया जाए। मेरे ख्याल में एकलव्य से जुड़े विभिन्न लोगों ने इन दोनों आयामों के बारे में काफी कुछ सीखा है। फिलहाल हमारे पास इतना समय नहीं है कि विस्तार में जाएं, मगर कुछ सबक तो मैंने अभी जो कुछ कहा था, उसमें भी झलके थे।

रमा कांत अग्निहोत्री : सामान्यीकरण का मुद्दा - मुझे यह बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा लगता है और स्कूल शिक्षा के संदर्भ में मैं इस पर फिर से फोकस करना चाहूंगा। अमूर्तीकरण, आदर्शीकरण, और सामान्यीकरण वैसे तो किसी भी विषय में सिखाए जा सकते हैं, मगर यह बार-बार दर्शाया गया है, और मुझे पूरा यकीन है कि शिक्षा के प्रारंभिक दौर में ये बातें सबसे कारगर व रोचक ढंग से और सबसे चुनौतीपूर्ण ढंग से भाषाओं के

तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया के ज़रिए और बच्चों को भाषा के नियम खोजने में जोड़कर सिखाई जा सकती हैं। नियम खोजने का काम बच्चे स्वयं कर सकते हैं। मैं इस बात को विस्तार दे सकता हूं या संदर्भ बता सकता हूं जिन्हें आप देख सकते हैं। यह काम करने वाला मैं अकेला नहीं हूं, यह काम दुनिया भर में हुआ है हालांकि छोटे स्तर पर।

इस बात से आंखें न चुराएं, मुझे लगता है कि हम किस ढंग का समाज चाहते हैं, इस चीज़ को शिक्षा के दायरे में सचेत वार्तालाप के रूप में शामिल किया जाना चाहिए। यह वार्तालाप समाज के उन मूल्यों के अंतर्गत होगा जिन पर कोई समझौता नहीं किया जा सकता। और यहां एक बार फिर मुझे लगता है, मेरे विषय के प्रति मेरा मोह है, कि तार्किक जांच-पड़ताल, तार्किकता, अपने आसपास की दुनिया की छानबीन करने का काम, खास तौर से स्कूल के स्तर पर, भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। इसके बारे में हम और बात कर सकते हैं।